साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।



द्वितीय संस्करण



संवत्सर २००४



मूल्य १।।।)



साहित्य प्रेस, आगरा।

निवेदन

(प्रथम संस्करण से)

यह मेरी तीसरी आलोचना-कृति है। मेरी पिछली रचनाओं को हिन्दी-पाठकों ने अपनाया, इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ। प्रस्तुत पुस्तक में मैंने प्रवृत्तियों के विश्लेषण के अतिरिक्त व्यक्तित्वों का भी स्पर्श किया है। यह मार्ग आशंका से मुक्त नहीं—परन्तु अपने नाटककारों एवं आधुनिक हिन्दी-पाठकों की विवेकशीलता का विश्वास करते हुए मैंने साहसपूर्वक इसे ग्रहण कर ही लिया है। व्यक्ति और उसकी कृति में रक्त का सम्बन्ध है, अतएव एक का विश्लेषण दूसरे को साथ लिये बिना असम्भव है। मैंने सावधानी से काम लिया है, फिर भी यदि मेरा कोई परिणाम अनुचित अथवा भ्रान्त हो गया हो तो उसका पूर्ण दायित्व मेरे ऊपर है—और मैं अपनी भूल नतशिर स्वीकार कर लूँगा।

आशा है मेरा यह नवीन प्रयास आधुनिक हिन्दी-नाटक और उसके कृती कलाकारों को समझने में थोड़ी बहुत सहायता देगा।

अँगरेजी विभाग,
कमर्शल कॉलेज दिल्ली,

—नगेन्द्र

विषय-सूची

आधुनिक हिन्दी-नाटक

आधुनिक हिन्दी-नाटक की पृष्ठ-भूमि

इस बात में शायद सभी नाट्यशास्त्री एक मत हैं कि नाटक के मूल में किसी-न किसी प्रकार का द्वन्द्व रहता है। आज भगवान की कृपा से जीवन में द्वन्द्व की तीव्रता होते हुए भी, हमारा नाटक क्यों समृद्ध नहीं है—यह प्रश्न विचित्र ही नहीं महत्वपूर्ण भी है। इसका सब से बड़ा और प्रत्यक्ष कारण तो यही है कि हिन्दी के पास कोई रङ्गमञ्च न कभी रहा और न अब है, लेकिन इसके भीतर एक सूक्ष्मतर कारण और भी है : वह यह कि हिन्दी का आलोचक एक कल्पना-स्थित रङ्गमञ्च की बात करता हुआ सदा से अपने उपलब्ध नाटक-साहित्य के प्रति अन्याय करता रहा है। वह प्रायः यह भूल गया है कि हिन्दी के पास न रङ्गमञ्च है न उपयुक्त श्रोता-समाज। इसी कारण हिन्दी के साहित्यकार ने या तो नाटक को हाथ लगाने की हिम्मत ही कम की है और अगर की भी है तो अपनी कल्पना

और शक्ति को आवश्यकता से अधिक दबा रखा है जिसके परिणामस्वरूप नाटक बहुत निर्जीव एवं यन्त्रवत् हो गया है। इधर सिनेमा ने भी प्रायः उपन्यास को ही अपनाया है—अतः उसके द्वारा भी बेचारे नाटककार को कोई विशेष प्रोत्साहन नहीं मिल सका। अस्तु।

आज के नाटक को उत्तराधिकार में स्वदेश-विदेश दोनों से थोड़ी-बहुत सम्पत्ति मिली है। स्थूल रूप से उसका विवेचन हम इस प्रकार कर सकते हैं:—

१—संस्कृत के अनूदित नाटक

२—विदेश का रोमान्टिक ड्रामा (विशेष कर शेक्सपियर और मॉलियर का साहित्य)

३—द्विजेन्द्रलालराय के नाटक

४—हिन्दी के पारसी रङ्गमञ्च वाले सस्ते नाटक

५—प्रसाद का नाट्य-साहित्य (और हिन्दी के दो एक अन्य मौलिक नाटक)

६—पश्चिम के समस्या-नाटक

संस्कृत के अनूदित नाटकों का प्रभाव पड़ता अवश्य, पर वह विदेश के रोमान्टिक ड्रामा के कारण दब गया—अतएव उनका आज के नाटक पर कोई विशेष ऋण नहीं। आज शायद ही कोई नाटक-कार संस्कृत नाट्य नियमों के विषय में सोचता हो। फिर भी आज कतिपय घटना-प्रधान नाटक संस्कृत के उत्तरकालीन नाटकों की परम्परा में और कुछ छोटे भावनाट्य संस्कृत नाटिकाओं की परम्परा में मिलते हैं। ये नाटक क्रमशः कथा के उद्घाटन और गीति-तत्व के उपयोग में संस्कृत से प्रभावित हैं। विदेश के रोमांटिक ड्रामा का प्रभाव कुछ तो सीधा, परन्तु अधिकांश में द्विजेन्द्र-साहित्य के माध्यम द्वारा हिन्दी-नाटक पर बहुत काफी पड़ा। ट्रेजेडी (जीवन में संघर्ष)

की भावना, व्यक्ति-वैशिष्ट्य एवं व्यक्ति-प्रधान नाटक, सुख और दुःख की सीमाएँ, मुख्य कथा में हास्य का अन्तर्भाव, टेकनीक के क्षेत्र में—पाँच अङ्कों में नाटक का विभाजन, प्रारम्भ विकास, चरम सीमा, निगति और समाप्ति की मंजिलों में होकर वस्तु का नियोजन, आदि बातें हमें यहाँ से मिलीं। यह ठीक है कि शेक्सपियर और मॉलियर आदि के नाटकों का अनुवाद सीधा भी हिन्दी में हुआ। परन्तु उसका महत्व ऐतिहासिक ही है, साहित्यिक नहीं। लाला सीताराम आदि के नाटकों को पढ़ कर शेक्सपियर की कला की कल्पना करना एकान्त असम्भव है—इसी प्रकार जी० पी० श्रीवास्तव के अनुवाद हमें मॉलियर के विषय में क्या दे सकते हैं? द्विजेन्द्रलालराय के नाटक ही, जैसा मैं पहिले कह चुका हूँ, इस प्रभाव के माध्यम थे। उनके शाहजहाँ, नूरजहाँ, चन्द्रगुप्त, दुर्गादास, उसपार, आदि को पढ़ कर ही वास्तव में हिन्दी वाले विदेशी प्रभाव को हृदयङ्गम कर सके। इसके अतिरिक्त द्विजेन्द्र की अपनी भावातिरेकमयी शैली, उनकी राष्ट्रीयचेतना विशेषकर हिन्दू-संस्कृति के प्रति उनका ममत्व, एवं उनकी नारी-पूजा आदि को भी हिन्दी नाटकारों ने आदर और अपनाव से ग्रहण किया।

अब रहे पारसी रङ्गमञ्च पर अभिनीत हिन्दी के सस्ते नाटक जो सिनेमा के आगमन से पूर्व हमारी अभिनय-दर्शन की भूख को मिटाते रहे थे। ये नाटक सस्ती नीति (Cheap ethics) के बल पर समाज-सुधार, धर्म राष्ट्रीयता आदि का उपदेश देते थे, परन्तु इनका उद्देश्य व्यवसाय ही था। अतः अधिक से अधिक ये जनता की रुचि का प्रसादन कर सकते थे, उसका परिष्कार नहीं। इनकी कथा प्रायः पौराणिक ही होती थी क्योंकि तब तक रामलीला और रास से भिन्न अभिनय की कल्पना करना शायद हिन्दी जनता के लिए आसान नहीं था; फिर भी

श्री नारायणप्रसाद बेताब और पं० राधेश्याम कथावाचक के नाटकों को हिन्दी भूल नहीं सकती। यद्यपि ये सभी नाटक साहित्यिक सुरुचि से अछूते, चरित्र-वैशिष्ट्य-हीन, केवल कथाओं के जमघट मात्र होते थे। एक ओर जहाँ इन्होंने हिन्दी (चाहे वह कितनी ही असाहित्यिक क्यों न रही हो) को स्टेज पर प्रचारित किया, वहाँ दूसरी ओर दर्शकों की रुचि को ऐसा विकृत भी कर दिया कि आज कल भी हमें द्विजेन्द्रलालराय के चन्द्रगुप्त, नूरजहाँ आदि एकान्त साहित्यिक नाटकों के साथ बाहर के प्रहसन या नक़ल और गीत-गजल अनिवार्य रूप से जोड़ने पड़ते हैं। उनकी कृत्रिम तुकान्त गद्य से पीछा भी मुश्किल से छूट पाया। तभी प्रसादजी के नाटकों का आविर्भाव हुआ। प्रसादजी की मौलिक प्रतिभा के स्पर्श से हिन्दी का यह उपेक्षित अङ्ग जगमगा उठा। उन्होंने संस्कृत के रूढ़िगत प्रभाव से धीरे-धीरे मुक्त होकर हमें कई उत्कृष्ट नाटक दिए। उनके नाटक-साहित्य के मूल में सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की उत्कट प्रेरणा है। अपने समृद्ध पुरातत्त्व-ज्ञान के बल पर उन्होंने बौद्धकालीन भारतीय संस्कृति के अवयवों को बड़ी सुन्दरता से जोड़ कर उनमें प्राण-संचार किया। सच्चे अर्थ में पुनर्निर्माण या पुनरोत्थान की प्रवृत्ति प्रसाद में ही थी। उनके नाटकों में ट्रेजेडी की भावना सर्वथा मौलिक है। अपनी चिर-जागृत जिज्ञासा की करुण अनुभूति प्रसाद के प्राणों में जड़ जमा गई थी। जीवन के रस को पीकर मानो यह और भी तीखी हो गई हो, और इसी के परिणाम-स्वरूप बाहरी सुख-वैभव, रूप-यौवन के मूल में—बहुत गहरे में—विषाद की एक तीव्र अन्तर्धारा है, जो स्थान-स्थान पर विराग, नियति आदि शब्दों में व्यक्त होती रहती है। इस भावना को व्यक्त करने का साधन प्रधानतः कोई नारी पात्र होता है जिसके निस्पृह बलिदान की करुण छाया सुखान्त नाटक

पर भी मंडराती रहती है। प्रसाद की ट्रेजेडी नारी ट्रेजेडी (Feminine tragedy) है, उसमें करुणा की सूक्ष्म-कोमल स्मिति-रेखा है—भय का अट्टहास नहीं। इसके अतिरिक्त प्रसाद की दर्शन-कवित्वमयी शैली उनकी अपनी देन है। उनकी असाधारण रंगीन कल्पना और रोमांस की अमिट प्यास, इस शैली के वाह्य उपादान हैं और मूल तत्व है वही जिज्ञासा-वृत्ति।

प्रसाद के समकालीन कुछ अन्य साहित्यकारों ने भी नाटक लिखे जो अनुल्लेखनीय नहीं हैं—माखनलाल चतुर्वेदी का कृष्णार्जुन युद्ध, भट्टजी का दुर्गावती आदि। परन्तु उनमें कोई दूर तक जाने वाला वैशिष्ट्य नहीं था (Sustained individuality), अतः उनका प्रभाव अपने तक ही सीमित रहा।

विदेश में इस शताब्दी के प्रारम्भ से ही इब्सन के प्रभाव-स्वरूप रोमान्टिक (भाव-पूर्ण) नाटकों के विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गयी थी। इन नाटककारों के, जिनमें इब्सन और शॉ अग्रगण्य हैं, मुख्य सिद्धान्त इस प्रकार हैं:—

(१) नाटक में नित्य-प्रति के जीवन की सच्ची सजीव व्याख्या होनी चाहिये। हमारे सामने जो रोज़ की समस्याएँ हैं उनका विवेचन और समाधान करने में ही नाटक की उपयोगिता है। कल्पना-लोक अथवा आदर्श-भूमि पुरातन से उतर कर हमें चिर-संघर्षमय वर्तमान में आना चाहिए। एक शब्द में, ये नाटक समस्या-नाटक हैं। स्वभावतः इनमें भावोद्रेक के स्थान पर चिंतन और (शा में ख़ास कर) तर्क की शक्ति मिलेगी।

ड्रामा की टेकनीक में आमूल परिवर्तन हो गया। स्टेज पर रमणीक दृश्यों के स्थान पर सादा ड्राइङ्गरूप का प्रभुत्व हुआ। गद्य ही माध्यम बना। अस्वाभाविक नाट्य रूढ़ियों का सर्वथा तिरस्कार किया गया—टेकनीक ने मुक्ति पायी। वस्तु अब यंत्र-

वत् परिचालित नहीं होती—पटाक्षेप का विशेष नियम नहीं रहा, स्वगत, अर्ध-स्वगत आदि को वाहियात क़रार दे दिया गया।

इब्सन और शा संसार के प्रथम श्रेणी के नाटककार गिने जाते हैं, उनके नाटक की ओर हिन्दी के लेखकों का आकर्षण स्वाभाविक ही है।

इन स्वदेशी-विदेशी प्रभावों के बीच आज का नाटक लिखा गया है और लिखा जा रहा है।

———

प्रसाद के नाटक

मूल-चेतना

शान्त गम्भीर सागर जो अपनी आकुल तरङ्गों को दबाकर धूप में मुस्करा उठा है, या फिर गहन आकाश जो झंझा और विद्युत को हृदय में समाकर चाँदनी की हँसी हँस रहा है—ऐसा ही कुछ प्रसाद का व्यक्तित्व था। प्रसाद अपने मूल-रूप में कवि थे, जीवन में उन्हें आनन्द इष्ट था, इसलिए वे शिव के उपासक थे। बस शिव की उपासना उनके मन का विश्लेषण करने के लिए पर्याप्त है। शिव का शिवत्व इसी में है कि वे हलाहल को पान कर गये। और उसको पचा कर फिर भी शिव ही बने रहे, उनका कण्ठ चाहे नील हो गया हो, परन्तु मुख पर वही आनन्द का शान्त प्रकाश बना रहा। प्रसाद के जीवन का आदर्श यही था, वे बड़े गहरे जीवन-द्रष्टा थे। आधुनिक जीवन की विभीषिकाओं को उन्होंने देखा और सहा था, यह ज़हर उनके प्राणों में एक तीखी जिज्ञासा बन कर समा गया था—उनकी आत्मा जैसे आलोड़ित हो उठी हो। इस आलोड़न को दबाते हुए आग्रह

के साथ आनन्द की उपासना करना ही उनके आदर्श की व्याख्या करता है—और यही उनके साहित्य की मूल-चेतना है।

ऐसा व्यक्ति, यह स्पष्ट है, संसार की भौतिक वास्तविकता को विशेष महत्त्व नहीं देगा—प्रायः वह उसको छोड़ कहीं अन्यत्र आनन्द की खोज करेगा—एक शब्द में, उसका-दृष्टिकोण रोमान्टिक होना अनिवार्य है। वर्तमान से विमुख होने के कारण (जैसा रोमान्टिक व्यक्ति के लिए आवश्यक है) वह पुरातन की ओर जायगा—या कल्पना-लोक की ओर। प्रसाद का यही रोमान्टिक दृष्टिकोण उनकी सांस्कृतिक चेतना के लिये उत्तरदायी है।

नाटकों का आधार—

प्रसाद के सभी नाटकों का आधार सांस्कृतिक है। आर्य संस्कृति में उन्हें गहन आस्था थी, इसीलिए उनके नाटकों में भारत के इतिहास का प्रायः वही परिच्छेद है (चन्द्रगुप्त मौर्य—हर्ष) जिसमें उसकी संस्कृति अपने पूर्ण वैभव पर थी—ब्राह्मण और बौद्ध संस्कृतियों के संघर्ष से जब उसका स्वरूप प्रखर हो उठा था।

एक ओर चाणक्य ब्राह्मण धर्म की व्याख्या करता हुआ घोषित करता है—

"ब्राह्मण एक सार्वभौम शाश्वत बुद्धि-वैभव है—वह अपनी रक्षा के लिए पुष्टि के लिये और सेवा के लिये इतर वर्णों का सङ्गठन कर लेगा।"

दूसरी ओर भगवान बुद्ध की शीतल वाणी सुनाई देती है—

"विश्व के कल्याण में अग्रसर हो। असंख्य दुखी जीवों को हमारी सेवा की आवश्यकता है, इस दुख-समुद्र में कूद पड़ो। यदि एक भी रोते हुये हृदय को तुम ने हँसा दिया तो सहस्त्रों स्वर्ग तुम्हारे अन्तर में विकसित होंगे······ विश्व-मैत्री हो जायगी—विश्व भर अपना कुटुम्ब दिखाई पड़ेगा।"

इन्हीं दोनों धूपछाँही डोरों से बुना हुआ प्रसाद के नाटकों का आधार है।

प्रसादजी प्राचीन भारतीय संस्कृति के सौन्दर्य पर मुग्ध थे। स्वभाव से चिन्ताशील और कल्पना-प्रिय होने के कारण वे उसी युग में रहते थे। कोलाहल की अवनी तज कर जब वे भुलावे का आह्वान करते हुए विराम-स्थल की खोज करते होगें, उस समय यह रंगीन अतीत उन्हे सचमुच बड़े वेग से आकर्षित करता होगा इसीलिए उनके नाटकों में पुनरोत्थान की प्रवृत्ति बड़ी सजग रहती है। कामना का रूपक इसका मुखर साक्षी है। वे विदेशी छाया से आच्छादित भारतीय जीवन को फिर से उसी स्वर्ग की ओर प्रेरित करने की बात सोचा करते थे। उन्होंने देखा कि हमारा वर्तमान ही नहीं, भूत इतिहास भी विदेशी प्रभाव की छाया में मलिन होगया है, अतः फिर से उसका सच्चा स्वरूप प्रदर्शित करने के लिए, उन्होंने भारतीय ग्रन्थों के ही आधार पर ऐतिहासिक अन्वेषण किये। उनके पुरातत्व-ज्ञान का आधार प्राचीन शिला-लेख, पाणिनि-व्याकरण, पतञ्जलि-योग, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, कथासरित्सागर, राजतरङ्गिणी, पुराण, प्राचीन-काव्य-ग्रन्थ आदि ही हैं। प्रसाद की यह जिज्ञासा गहरी थी, उनको अतीत के लिए सिर्फ रोमाण्टिक मोह ही नहीं था—चन्द्रगुप्त मौर्य्य, कालिदास स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामिनी आदि के विषय में उनकी खोजें अपना स्वतन्त्र महत्व रखती हैं। इस प्रकार भारतीय संस्कृति के बिखरे अवयवों का जोड़ कर उन्होंने अपनी भावुकता, चिन्ता और कल्पना द्वारा उसमें प्राण-सञ्चार किया।

उन्होंने वातावरण की सृष्टि इतने सजीव रूप में की है कि मौर्य्य एवं गुप्तकालीन भारतीय जीवन हमारे सामने चित्रित हो जाता है—फिर से हम आज की पश्चिम-मिश्र-संस्कृति और उससे पहले की मुस्लिम संस्कृति और उससे भी पूर्व की सामन्तीय

संस्कृति, इन तीनों को लाँघ कर आर्य-संस्कृति की छाया में पहुँच जाते हैं। यह पुनरोत्थान इतने सहज ढङ्ग से होता है कि दो हज़ार वर्ष का महान अन्तराय एक साथ तिरोहित हो जाता है। प्रसाद का दृश्य-विधान ही नहीं, उनके पात्रों के नाम, वेशभूषा, चरित्र और बात-चीत सभी देश-काल के अनुकूल हैं। आम्भीक, अन्तर्वेद, गोपाद्रि, महाबलाधिकृत, कुमारामात्य, आदि शब्दों का प्रयोग इस सांस्कृतिक वातावरण को उपस्थित करने का अमोघ साधन है।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि युग-जीवन या युग-धर्म का प्रभाव प्रसाद जी पर बिलकुल नहीं है। मैंने जैसा अभी निवेदन किया, प्रसादजी गहरे जीवन द्रष्टा थे। उनका आधुनिक जीवन का भी अध्ययन असाधारण था—अतएव उनके नाटकों में आज की समस्याएँ स्पष्ट प्रतिविम्बित मिलती हैं। चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त में राष्ट्रीयता एवं देशभक्ति का भव्य आदर्श है। युद्ध में जब सिकन्दर एक बार आहत होकर गिर जाता है, उस समय सिंहरण के कण्ठ में बैठ कर प्रसादजी की देशभक्ति अमर स्वरों में फूट उठती है—

मालव सैनिक—सेनापति, रक्तपात का बदला! इस नृशंस ने निरीह जनता का अकारण वध किया है। प्रतिशोध?

सिंहरण—ठहरो, मालव वीरो! ठहरो. यह भी एक प्रतिशोध है। यह भारत के ऊपर एक ऋण था, पर्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का यह प्रत्युत्तर है।

यह प्रसङ्ग इतिहास के अनुकूल हो अथवा नहीं, परन्तु इसमें बोलती हुई देशभक्ति की भावना एकान्त दिव्य है। देश-भक्ति का इतना शुद्ध और पवित्र रूप मैंने हिन्दी-साहित्य में अन्यत्र नहीं देखा। आजकी प्रान्तीयता और सम्प्रदायिकता पर

भी चन्द्रगुप्त में अनेकों तीखे व्यंग्य हैं। चाणक्य की नीति का प्रमुख तत्व एक-राष्ट्र की स्थापना ही तो है—

'मालव और मागध को भूल कर जब आर्यावर्त्त का नाम लोगे तभी यह मिलेगा।'

'आक्रमणकारी बौद्ध और ब्राह्मणों में भेद न करेंगे।'

इसके अतिरिक्त हमारी अन्य समस्याएँ जैसे दाम्पत्य-सम्बन्ध-विच्छेद, धार्मिक अथवा जातीय दम्भ आदि का भी प्रौढ़ विवेचन स्थान-स्थान पर मिलता है। परन्तु प्रसाद की कला का यह चमत्कार है कि ये समस्याएँ उस पुरातन वातावरण में पूरी तरह से फिट करदी गई हैं। जो लोग इस प्रकार के प्रभाव को ऐतिहासिक असङ्गति मानते हैं, वे वास्तव में मानव भावनाओं की चिरन्तनता को ग्रहण करने में अपनी अक्षमता मात्र प्रकट करते हैं।

सुख-दुख की भावना—

प्रसाद के नाटकों के तत्व को समझने के लिए उनकी सुख-दुख की भावना को ग्रहण करना अनिवार्य है। उनके नाटक सभी सुखान्त हैं, परन्तु क्या उनको समाप्त करने पर पाठक के मन में सुख और शान्ति का प्रस्फुरण होता है ? नहीं ! नाटक के ऊपर दुख की छाया आदि से अन्त तक पड़ी रहती है और उसके मूल में एक करुण चेतना सुख की तह मे छिपी हुई मिलती है। प्रो० शिलीमुख ने बिल्कुल ठीक कहा है कि प्रसाद की सुखान्त भावना प्रायः वैराग्य पूर्ण शान्ति होती। इसका कारण है उनके जीवन की वही करुण जिज्ञासा जो उनके प्राणों को सदैव विलोड़ित करती रहती थी—बौद्ध इतिहास और दर्शन के मनन ने उसे और तीखा कर दिया था। उनके नाटकों में बौद्ध और आर्य-दर्शन का संघर्ष और समन्वय वास्तव में दुःखवाद और आनन्द-मार्ग का ही संघर्ष और समन्वय है जो उनके

अपने अन्तर की सबसे बड़ी समस्या थी। इसी समन्वय के प्रभाव-वश उनके नाटक न पूर्णतः सुखान्त हैं और न दुःखान्त, उनमें सुख दुःख जैसे एक दूसरे को छोड़ना नहीं चाहते, कवि आग्रह-पूर्वक सुख का आह्वान करता है, सुख आता भी है, परन्तु तुरन्त ही दुख भी अपनी झलक दिखा ही जाता है।

सिल्यूकस—(कार्नेलिया की ओर देखता है वह सलज्ज सिर झुका लेती है)—तब आओ बेटी, आओ चन्द्रगुप्त! (दोनों ही सिल्यूकस के पास आते हैं, सिल्यूकस उनका हाथ मिलाता है। फूलों की वर्षा और जयध्वनि!)

चाणक्य—(मौर्य का हाथ पकड़ कर) चलो अब हम लोग चलें।

—(यवनिका) चन्द्रगुप्त

इस प्रकार आप देखते हैं कि ये नाटक सुखान्त अथवा दुखान्त न होकर प्रसादान्त है। इसका एक प्रमाण और है, वह है रस का परिपाक। इन नाटकों में मुख्य रस दो हैं शृङ्गार और वीर (देशभक्ति)। इन दोनों में भावना अत्यन्त गाढ़ी और तीव्र है। शृङ्गार मे एक ओर अपने को लय कर देने की तीखी चाह मिलती है तो दूसरी ओर विलास की उष्ण गन्ध और रूप-यौवन के चटकीले चित्र जो प्रसाद की तूलिका की विशेष विभूति हैं। इसी प्रकार वीरता—देशाभिमान अथवा आत्म-गौरव की अभिव्यक्ति भी अन्तरतम की पुकार ही है। सिंहरण अथवा बन्धुवर्म्मा की देशभक्ति कर्तव्य-पूर्ति नहीं, आत्मा का आग्रह है। उनकी उक्तियाँ केवल नीति-मुखर ही नहीं हैं, उनमें हृदय का आक्रोश है।—परन्तु इन दोनों के साथ तीसरा रस शान्त भी अनिवार्य रूप से मिलता है जो इन दोनों पर अनुशासन करता है। जब आवेश, चाहे वह मधुर हो या परुष, उबल कर सीमा तोड़ना चाहता है, तभी शान्त रस के शीतल छींटे उसे शान्त और संयत कर देते हैं। स्वभावतः यहाँ रस का प्रवाह आवेग

से परिशान्ति की ओर बहता हुआ मिलता है—और यही प्रसाद के नाटकों का 'प्रसादान्त' है।

चरित्र-प्रधान नाटक—

स्पष्टतः ये नाटक चरित्र के द्वन्द्व को लेकर चलते हैं और इनकी सबसे बड़ी सफलता चरित्र-निर्माण में ही है। प्रसाद आधुनिक साहित्य के सबसे महान् सृष्टा थे। उन्होंने अपने नाटकों में अमर पात्रों की सृष्टि की है जो सभी अपना स्वतन्त्र एवं प्राणवान व्यक्तित्व रखते हैं—दार्शनिक बिम्बसार और उनकी तत्वज्ञानी दाण्ड्यायन का व्यक्तित्व भी कितना साफ और तीखा है! कारण यह है कि पात्रों में प्राण फूकने वाली प्रतिभा की सजीवता और तीव्रता अद्वितीय थी। प्रसादजीके जीवन-रथ की परिधि भले ही घर से दशाश्वमेध और दशाश्वमेध से घरतक सीमित रही हो, परन्तु उनका भौतिक,मानसिक एवं आध्यात्मिक जीवन चिर-गतिशील था—उसकी गति प्रेमचन्द की तरह विस्तार में अधिक नहीं बढ़ी, परन्तु अन्दर गहराई में बहुत दूर पहुँच गई थी। वे अत्यन्त प्राणवान कलाकार थे, उनके व्यक्तित्व की तीक्ष्णता ने ही पात्रों की रूप-रेखा को काट-छाँट करइतनातीखा कर दिया था।—एक दूसरे प्रकार से भी सृष्टा ने अपने आपको सृष्टि में व्यक्त किया है। प्रसाद के दर्शन-कवित्व-मय व्यक्तित्व का थोड़ा बहुत अंश उनके सभी पात्रों ने प्राप्त किया है। पुरुष-पात्र प्रायः तीन प्रकार के मिलते हैं-(१)जीवनके तत्वों को सुलझाने वाले तत्व-वेत्ता आचार्य, (२) जीवन-संग्राम में प्रवृत्त होकर जूझने वाले कर्मठ सैनिक, (३) राजपुत्रों को राजनीति के दाँव-पेच सिखाने वाले कूट-नीतिज्ञ। स्त्रियों मे भी स्पष्टतः कई श्रेणियाँ हैं—१-राजनीति की आग से खेलने वाली राजमहिषियाँ २-जीवन-युद्ध में प्रेम का सम्बल लेकर कूदने वाली स्वाभि-मानिनी

राजपुत्रियाँ, ३—जीवन के सँघर में पड़ी हुई मध्यवर्गीय दुर्बल नारियाँ और ४—अपने निस्पृह बलिदान से नाटक के जीवन में एक करुण गन्ध छोड़ जाने वाली फूल-सी सुकुमारियाँ। बौद्ध और शैव दर्शन के समन्वय से जीवन की व्याख्या करने वाले ये आचार्य दार्शनिक प्रसाद के ही प्रतिरूप हैं। उधर निरन्तर कर्म में रत किन्तु फल की ओर से विरक्त सैनिक-रूप राजपुत्रों को, प्रसाद का जीवन के विचार और उपभोग से परिपुष्ट, पौरुष प्राप्त हुआ है। नारी पात्रों में आपको उनके हृदय का रूप-मोह और प्राणों में बैठी हुई जिज्ञासा की टीस मिलेगी। इस प्रकार प्रसादजी ने सभी चरित्रों में अपने व्यक्तित्व की साँस फूँक दी है। स्वभावतः उनमें वह अव्यक्तिगत चित्रण न मिलेगा जो सच्चे अर्थ में नाटकीय कहा जाता है। जहाँ शेक्स-पियर जैसे नाटककारों मे कौनसा चरित्र उनकी प्रतिच्छाया है, यह पता लगाना असम्भव है वहाँ आप प्रसादजी के व्यक्तित्व की झलक स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, चाणक्य. किसी भी चरित्र में थोड़ी बहुत देख सकते हैं। इस दृष्टि से प्रेमचन्द प्रसाद की अपेक्षा कहीं अधिक अव्यक्त रह सकते थे।

प्रसाद के काव्य में विराट और कोमल का अपूर्व संयोग है—जिस लेखक ने कामायनी के विराट रूपक की सृष्टि की है, उसी ने अनेक मधु-स्निग्ध गीतियों की उद्भावना भी की है। अतएव आपको उनके नाटकों में इन दोनों तत्वों का अपूर्व योग मिलेगा। उनके दो प्रकार के चित्र साहित्य की अमर विभूतियाँ हैं:—१ सम्पूर्ण चित्र, २ रेखा चित्र। पहले चित्र कवि की विराट भावना की प्रसूति हैं, उनका सम्पूर्ण चरित्र विकास शक्ति के आधार पर होता है. स्वभावतः यह चित्र समस्त नाटक की दीवार को घेरे हुए रहता है—चाणक्य और स्कन्दगुप्त ऐसे ही दो चित्र हैं। अजातशत्रु की मल्लिका में विस्तार तो नहीं परन्तु

शक्ति असीम है। इनमें महान् कोमल का एक स्पर्श भर पाकर मुस्करा उठा है।

दूसरे चित्र गीतिमय हैं—वे प्रसाद की सूक्ष्म कोमल गीति-प्रतिभा के प्रोद्भास हैं। इनमें जीवन की समस्त रेखाएँ अथवा विभिन्न रङ्ग नहीं—इनमें एक रेखा है और एक धुँधला रेशमी रङ्ग है—एक ही स्वर है 'संगीत सभाओं की अन्तिम लहरदार और आश्रयहीन तान धूपदान की एक क्षीण गंध-धूम-रेखा, कुचले हुए फूलों का म्लान सौरभ—इन सबों की 'प्रतिकृति' है ये नारी-चरित्र। देवसेना, मालविका और कोमा—ये तीन चित्र—प्रसाद के नाटकों में उनकी ट्रेजेडी की सार—प्रतिमाएँ हैं। इनका व्यक्तित्व जैसे जीवन का सजीव कोमल-करुण व्यंग्य है।

मधु वेष्ठन—

प्रसाद के नाटक मधु से वेष्ठित हैं—प्रसाद मूल रूप में कवि हैं अतः उनके नाटकों में काव्य की गहरी एवं पृथुल अन्त-र्धारा बह रही है। उनके सुन्दरतम गीतो का एक बहुत बड़ा अंश इन नाटकों में बिखरा मिलेगा। इसके अतिरिक्त वस्तु-चयन पात्रों के व्यक्तित्व, वातावरण, कथोपकथन और सारभूत प्रभाव—सभी में कविता का रंगीन स्पन्दन है। प्रसाद ने अपनी रंगीन कल्पना के सहारे, दूर अतीत के बिखरे हुए प्रस्तर-खण्डों को एकत्रित कर उनमें प्राणों की कविता का रस भर दिया, अतएव परिणाम-स्वरूप जिन नाटकों का निर्माण हुआ उनका वातावरण रूप और रंग से जगमगा रहा है। सबसे प्रथम उनके गीतों को ही लीजिये—यह सत्य है कि ये सभी गीत नाटकीय नहीं हैं, कुछ तो स्पष्ट रूप से स्वतन्त्र हो गये हैं, परन्तु उनके भीतर जो वेदना की गहरी टीस, रूप-यौवन का चटकीला रंग, एवं विलास की उष्ण-गन्ध भरी हुई है, वह समस्त नाटक पर

सौरभ-श्लथ वासन्ती समीर की भाँति सञ्चरण करती रहती है। यही बात वस्तु-विधान और चरित्रांकन में है प्रसाद की घटनाएँ रोमांस और रस से परिपुष्ट हैं—अन्धेरी रात में मागन्धी और शैलेन्द्र का मिलन, चाणक्य का सर्वस्व-त्याग, स्कन्दगुप्त और देवसेना की बिदा, मालविका का बलिदान सभी कुछ एक मूक कविता है। पात्रों की स्नायुओं में भी रस का प्रभूत संचार हो रहा है—इनमें से कतिपय तो एकान्त कवित्वमय हैं, उनका अस्तित्व ही नाटक में कविता की सांस फूंकने को होता है। ये पात्र प्रायः नारी पात्र होते हैं जिनके जीवन के विरल मधुर क्षण फूल के समान खिलकर अपना सौरभ छोड़ जाते हैं—इनके अतिरिक्त प्रायः और सभी पात्र भी अपने सृष्टा के कवित्व के भागी हुए हैं—चाणक्य के कर्म-कठोर व्यक्तित्व में भी बाल्यकाल की स्मृतियाँ भाँवरियाँ ले रही हैं। उनके संवाद और भाषा का रसीलापन तो दोष की सीमा तक पहुँच गया है। ये नाटक गद्य-गीतों का अक्षय भण्डार हैं।

१—"अकस्मात् जीवन कानन में, एक राका रजनी की छाया में छिप कर मधुर वसन्त घुस आता है। शरीर की सब क्यारियाँ हरी-भरी हो जातीहैं। सौन्दर्य का कोकिल 'कौन ?' कह कर सबको रोकने-टोकने लगता है, पुकारने लगता है। राजकुमारी ! फिर उसी में प्रेम का मुकुल लगजाता है, आँसू भरी स्मृतियाँ मकरन्द सी उसमें छिपी रहती हैं।"

२—"धड़कते हुए रमणी-वक्ष पर हाथ रख कर, उस कम्पन में स्वर मिला कर कामदेव गाता है। और राजकुमारी ! वही काम-संगीत की तान सौन्दर्य की लहर बन कर युवतियों के मुख में लज्जा और स्वास्थ्य की लाली चढ़ाया करती है।"

अब सारभूत प्रभाव लीजिये—वह न तो वास्तविकता की माँग पूरी करता है और न किसी आदर्श की पूर्त्ति। उसके पीछे

भी सिद्धान्त का नहीं काव्य का आग्रह है। देखिये स्कन्दगुप्त का अन्तिम दृश्य।

स्कन्दगुप्त—देवी यह न कहो! जीवन के शेष दिन कर्म के अवसाद में बचे हुये हम दुखी लोग, एक दूसरे का मुँह देख कर काट लेंगे। हम ने अन्तर की प्रेरणा से जो निष्ठुरता की थी, वह इस पृथ्वी को स्वर्ग बनाने के लिये। परन्तु इस नन्दन की वसन्त श्री, इस अमरावती की शची, इस स्वर्ग की लक्ष्मी, तुम चली जाओ—ऐसा मैं किस मुँह से कहूँ (कुछ ठहर कर सोचते हुए) और किस वज्र-कठोर हृदय से रोकूँ?

देवसेना! देवसेना!! तुम जाओ! हत-भाग्य स्कन्दगुप्त, अकेला स्कन्द ओह!!

देवसेना—कष्ट हृदय की कसौटी है; तपस्या अग्नि है। सम्राट! यदि इतना भी न कर सके तो क्या? सब क्षणिक सुखों का अन्त है। जिसमें सुखों का अन्त न हो, इसलिये सुख करना ही न चाहिये! मेरे इस जीवन के देवता! और उसके प्राप्य! क्षमा!

(घुटने टेकती है; स्कन्द उसके सिर पर हाथ रखता है)

दोष—

प्रसाद के नाटकों के दोष शायद उनके गुणों से अधिक स्पष्ट हैं—सबसे पहला दोष रङ्गमञ्च विषयक है। उनके नाटक में अभिनय की त्रुटियाँ हैं। उनमें युद्ध, अभियान आदि के ऐसे दृश्य हैं जो मञ्च पर काफ़ी गड़बड़ करेंगे। दूसरे उनकी अपरिवर्तनशील गम्भीर भाषा में अभिनयोचित चाञ्चल्य नहीं है। अनावश्यक दृश्यों की संख्या भी बहुत है। दूसरा बड़ा दोष है एकता (Unity) का अभाव। उसके लिए शायद उत्तरदायी है प्रसाद के मन में चलता हुआ सुख-दुख का संघर्ष, जिसके समाधान का प्रयत्न वे अन्त तक करते रहे थे। राज्यश्री या ध्रुवस्वामिनी में वस्तु-विस्तार कम होने से यह दोष नहीं आया।

ध्रुवस्वामिनी का सारभूत प्रभाव तो पूर्णतः एकसार है। परन्तु स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त जैसे बड़े नाटकों में घटना बाहुल्य में फँस कर नाटक की यूनिटी अस्तव्यस्त हो गई है। इन दोनों नाटकों में ऐसी घटनाएँ और पात्र हैं जो प्रभाव की एकता के लिये अनावश्यक ही नहीं वरन् घातक हैं। स्कन्दगुप्त में धातुसेन, पृथ्वीसेन, मातृगुप्त, मुद्गल और उनसे सम्बन्ध रखने वाले प्रसङ्गों का क्या प्रयोजन है? 'चन्द्रगुप्त' में चन्द्रगुप्त का सिंहासनारोहण बीच में इतना महत्वपूर्ण हो जाता है कि कथावस्तु वहाँ एक बार दम तोड़ कर फिर उठती है। तीसरा प्रमुख दोष यह कि वस्तु-विधान में कहीं-कहीं बड़े भद्दे जोड़ लगे हुये हैं। अनेक स्थानों पर नाटककार को घटनाओं की गतिविधि सँभालना कठिन हो गया है और ऐसा करने के लिये उसे या तो वाञ्छित व्यक्ति को उसी समय भूमि फाड़ कर उपस्थित कर देना पड़ा है—अथवा किसी का जबर्दस्ती गला घोटना पड़ा है। यह बड़े नाटकों में सर्वत्र हुआ है।

इस प्रकार इन नाटकों का महत्व असम है। एक ओर जहाँ पाठक उनके दोषों को देखकर विक्षुब्ध हो उठता है, दूसरी ओर उनकी शक्ति और कविता से अभिभूत हुये बिना भी नहीं रह सकता। ये नाटक अंशों में जितने महान् हैं सम्पूर्ण रूप में उतने नहीं। प्रसाद की ट्रेजेडी की भावना, उनकी सांस्कृतिक पुनुरोत्थान की चेतना, उनके महान्-कोमल चरित्र, उनके विराट् मधुर दृश्य, उनका काव्य-स्पर्श हिन्दी में तो अद्वितीय है ही, अन्य भाषाओं नाटकों की तुलना में भी उसकी ज्योति मलिन नहीं पड़ सकती।

आधुनिक नाटक का वर्गीकरण

इस समय मेरे सम्मुख एक प्रश्न है— वह यह कि मैं आधुनिक नाटक का प्रवृतिगत विवेचन करूँ अथवा नाटककारों की अत्यन्त सीमित संख्या का विचार कर व्यक्तियों को ही एक-एक कर लेता चलूँ। मैं वास्तव में दूसरी ही विधि का अनुसरण करने के पक्ष में हो चला था क्योंकि वह अधिक सरल है और उसमें खतरा भी कम है। परन्तु सभी नाटकों का अध्ययन करने के बाद मुझे उनमें अनेक समान प्रवृत्तियाँ इतनी स्पष्ट दिखाई दीं कि अब मैं वर्गीकरण का लोभ संवरण नहीं कर सकता।

मोटे रूप से तो हिन्दी का नाटककार ही हमें इस कठिनाई से मुक्त कर देता है। हमें लगभग सभी नाटको के मुख-पृष्ठ पर उनके नाम के साथ जाति की भी सूचना मिल जाती है—'रक्षा-बन्धन—ऐतिहासिक नाटक', 'मुक्तिका रहस्य—समस्या नाटक', 'स्पर्धा—सामाजिक नाटक', 'छलना-एक कलापूर्ण रूपक' इत्यादि। परन्तु इससे शायद हमारा काम न चले क्योंकि यह वर्ग-विभाजन कथावस्तु के आधार पर किया गया है। कथावस्तु का महत्व असन्दिग्ध है, फिर भी आज के साहित्य में उद्देश्य का गौरव अधिक है और उसी के अनुसार आन्तरिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण भी सम्भव है, इस कारण हमें उसको टटोलना पड़ेगा।

सांस्कृतिक चेतना

इस दृष्टि से हमें सबसे पहले वे नाटक मिलते हैं जिनमें सांस्कृतिक चेतना सर्वत्र मिलती है। प्रसाद के उपरांत यह प्रेरणा हमें चन्द्रगुप्त के अशोक और उससे भी अधिक उनके रेवा नाटक में मिलती है। उग्र का ईसा, सेठ गोविन्ददास का हर्ष, सियारामशरण गुप्त का पुण्यपर्व—सभी में मूलचेतना का साम्य है। इनका आधार समृद्ध आर्य-भारत का जीवन है। भारत की संस्कृति का मूलमन्त्र है सेवा और प्रेम द्वारा चिर-सुख-शान्ति की स्थापना। आत्म-बल की पशु-बल पर विजय—"कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" की साधना हृदय-परिवर्तन द्वारा हो सकती है, और उसका उपाय है अनुराग-मूलक आत्म-निषेध। अगर मैं भूल नहीं करता तो यह प्रेरणा उपर्युक्त सभी नाटकों में आसानी से पकड़ी जा सकती है।

'रेवा' में एक ओर यशोवर्मा की विजय-विषयक धारणा है जो पशुबल के द्वारा संस्कृति का प्रचार करना चाहती है, दूसरी ओर आशाद्वीप-वासियों का (रेवा) सांस्कृतिक श्रेष्ठता का दम्भ है जिसके परिणाम स्वरूप वे लोग आदान-प्रदान से विमुख होकर अपने में ही खोया रहना श्रेयस्कर समझते हैं। इन दोनों वृत्तियों के ही संघर्ष में ट्रेजेडी का सारतत्व अन्तर्निहित है। रेवा का बलिदान इसका प्रतीक है। 'अशोक' का उद्देश्य है अधिकार-प्राप्त राजा का हृदय-परिवर्तन अर्थात् स्नेह और सेवा

(अनुराग-मूलक आत्म-निषेध) की द्रोह और लोभ पर विजय। अशोक की पशु-वृत्ति सुमन के पाशविक वध से कुछ देर के लिए शिथिल अवश्य हो जाती है, परन्तु पराजित नहीं होती। उधर जनता की उत्तेजित पशुवृत्ति उसे मानो फिर ललकार कर सचेत कर देती है। परन्तु शीला का आत्मिक बलिदान उसमें एक क्षण के लिए भी उभरने की शक्ति नहीं छोड़ता। दूसरे की आत्मा को जीतने के लिए यह आत्म-समर्पण अमोघ साधन है। ईसा में भी यही बात है। वास्तविक ईसा चाहे किसी संस्कृति की सृष्टि हो, परन्तु उग्र का ईसा भारतीय संस्कृति की सृष्टि है। इस नाटक की मूल चेतना तो दूसरों की अपेक्षा और भी अधिक सुस्पष्ट है। "पशुबल को यदि पशुबल दबाएगा तो वह महापशुबल हो जाएगा जिससे किसी को भी सुख न मिल सकेगा। अत्याचार के प्रतीकार के लिए धैर्य, आत्म-दमन और अहिंसा ही सर्वश्रेष्ठ साधन है।" यहाँ यह कह देना असङ्गत न होगा कि ईसा में प्राचीन संस्कृति पर आधुनिकता का रङ्ग कुछ अधिक चढ़ा दिया गया है और स्थान-स्थान पर मानो गान्धीजी ईसा के शब्दों में बोल उठते हैं। उधर 'हर्ष' भी इसी हृदय-परिवर्तन की बात करता है। भण्डि के विजय-मूलक राष्ट्र-निर्माण का विरोध करते हुए हर्ष, राज्यश्री और सुएनचाङ्ग मैत्री एवं स्नेह-सेवा मार्ग का ही समर्थन करते हैं। हर्ष और राज्यश्री तो मानो आत्म-निषेध के प्रतीक हों। राज्यश्री का सिंहासन-ग्रहण एक प्रकार से आत्म-बलिदान ही है। उधर अन्त में हर्ष के द्वारा आदित्यसेन की आध्यात्मिक पराजय इस सत्य को और भी स्पष्ट कर देती है। इस नाटक का सांस्कृतिक तल बहुत ऊँचा है। पुण्यपर्व का वातावरण भी एकान्त शुद्ध और सात्विक है। मानव के अन्तर में छिपे हुए देवता और राक्षस का युद्ध—और अन्त में देवता की विजय का इसमें भव्य निदर्शन है।

इन नाटकों की दूसरी समानता भी कम महत्वपूर्ण नहीं है—यह है इस सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति का रूप। इन सभी नाटकों में प्रायः एक पात्र इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है, दूसरा उसका प्रतिफलन। रेवा का ऋषि पुण्डरीक, अशोक का आचार्य उपगुप्त, ईसा का विवेकाचार्य मानो इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं—और रेवा, शीला, एवं शान्ति अपने बलिदान द्वारा उसका प्रतिफलन। हर्ष में प्रतिपादक स्वयं हर्ष है—राज्यश्री अपना (ऊपर दिये हुए अर्थ में) बलिदान करती है। हिन्दी-नाटक का विद्यार्थी बड़ी सरलता से समझ लेगा कि इनके पीछे एक परम्परा चली आ रही है—इन नाटकों के आचार्य दाण्ड्यायन (चन्द्रगुप्त), गौतम (अजातशत्रु) मिहिर स्वामी (ध्रुवस्वामिनी) की ही शिष्य-परम्परा में हैं और ये स्त्री-पात्र कल्याणी, मालविका, देवसेना और कोमा की ही सहेलियाँ हैं (शीला और राज्यश्री कल्याणी के निकट हैं—रेवा और शान्ति मालविका आदि के)। इन स्त्री-पात्रों के जीवन का निस्पृह बलिदान एक मीठी करुणा से स्पन्दित है। श्रृङ्गार के लावण्य से ईषद् स्पष्ट इनका यह आत्म-समर्पण कितना समान है।

तीसरी समानता है वातावरण की। स्पिरिट और ऐतिहासिक आधार की समानता होने के कारण उनके वातावरण में साम्य होना जरूरी है—रेवा और हर्ष में समृद्धि है, अशोक, पुण्यपर्व और ईसा के पूर्वार्ध में (विपरीत दृश्यों के होते हुए भी) ऐसे चित्रों की कमी नहीं है। इन सभी नाटकों की पृष्ठभूमि में वैभव है। दृश्य-योजना का प्रभाव भी प्रायः शुद्ध और सात्विक है—इनमें वैभव है पर विलास या मादकता नहीं है; (ईसा का उत्तरार्ध इसका अपवाद है)।

चौथी समानता इसी से मिलती जुलती यह है कि इन पाँचों नाटकों का सारभूत प्रभाव दर्शक के मन पर बिल्कुल एक-सा

पड़ता है। उनका अन्त चाहे दुख में हुआ हो या सुख में, लेकिन समाप्ति पर दर्शक के अन्तर से एक आह निकलती है जिसमें न तो पीड़ा और दबाव ही होता है और न सुख-संतोष की विशदता ही। इसमें कुछ बेबसी सी मिली हुई शान्ति की भावना है।

इस चेतना का विश्लेषण करने पर हमें उसके मूल में आज के जीवन की एक प्रबल भावना मिलती है—वर्तमान के प्रति असन्तोष। वर्तमान के प्रति इस असन्तोष के राजनीतिक और सामाजिक कारण हैं जिनका विवेचन मैं यहाँ न करूँगा। इस प्रसंग में तो इतना ही लिखना पर्याप्त है कि व्यक्ति और देश-काल—अथवा अंतस् और वाह्य का असामञ्जस्य ही हमारे असन्तोष का मूल कारण है। वर्तमान से असन्तुष्ट व्यक्ति अपनी प्राण-शक्ति के अनुसार दो में से एक मार्ग ग्रहण करता है: वह या तो वर्तमान की विषमताओं को नष्ट-भ्रष्ट कर भविष्य के निर्माण में प्रयत्नवान होता है अथवा वर्तमान से हार मानकर उसको त्यागने या भूलने का प्रयत्न करता है। जिन परिस्थितियों में ये नाटक लिखे गये थे, वे दूसरे ही मार्ग के अनुकूल थीं, इस लिये वर्तमान को दुर्जेय अथवा त्याज्य मानकर उसे भूलना या त्यागना ही श्रेयस्कर समझा गया। वर्तमान को छूमन्तर करने के लिये कल्पना का स्पर्श अनिवार्य है—अतः ये कवि-लेखक अत्यन्त कोमल क्षणों में कल्पना लोक का सृजन करने लगे—या कुछ आश्वस्त होकर कल्पना के सहारे सुवर्ण के काल मे शरण लेने लगे जहाँ जीवन की विषमताओं का समाधान मिलने की आशा थी। इस प्रकार एक रोमान्टिक दृष्टिकोण लेकर इन नाटकों में पूर्ण पुरातन की ओर आवर्तन किया गया है।—आगे चलकर इसी पलायन-वृत्ति के द्वारा हम इन सभी की मूल-चेतना-अनुरागमूलक आत्म-निषेध (त्याग) का विश्लेषण भी सरलता से कर सकते हैं क्योंकि जीवन के प्रति असन्तोष ही, चाहे वह

किसी कारण से क्यों न हो, विराग और त्याग का सृष्टा है। इसलिये कुछ तो पलायन की भावना को ही उदात्तरूप देने के लिए अनजाने में और कुछ विरोधी संस्कृतियों के संघर्ष से सचेत होकर हमारे कवि और नाटककार ने आग्रह-पूर्वक अपनी संस्कृति का आँचल पकड़ा। परन्तु मूल में असन्तोष-भावना होने के कारण, एक अव्यक्त वेदना की टीस इस भुलावे या पुनरोत्थान में भी बनी ही रही. और सचमुच यही उसकी प्राण-शक्ति भी है; अन्यथा कल्पना लोक कोरा हवाई क़िला और पुनरोत्थान केवल आत्म-प्रवञ्चना है।

इस प्रकार इन नाटकों की सांस्कृतिक चेतना सौ फ़ीसदी छायावाद युग की भावना है, स्वभावतः इसमें एक ओर पलायन-वृत्ति और दूसरी ओर जीवन के सूक्ष्म तत्वों का प्राधान्य है। जीवन का स्वस्थ उपभोग या उसके विपरीत जीवन के विरुद्ध जम कर युद्ध—इन दोनों के अभाव में यदि इन नाटकों में द्वन्द्व का महान् रूप अथवा जीवन का पौरुष न मिले तो हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए।

चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार—

स्पिरिट की एकता होते हुए भी इन नाटकों में और उनके रचयिताओं के व्यक्तित्व में पृथक गुण-दोष-युक्त वैशिष्ट्य हैं। चन्द्रगुप्तजी के व्यक्तित्व पर पञ्जाबी जीवन और गुरुकुल के विभिन्न वातावरण का प्रभाव है—पहले ने उन्हें रङ्गीन कल्पना और कला-विलास और दूसरे ने सांस्कृतिक चेतना प्रदान की है। इन दोनों तत्वों ने मिलकर उनके दृष्टिकोण को रोमान्टिक बना दिया है। परन्तु यह रोमांस जीवन से असंपृक्त नहीं है—अतएव उसके भीतर एक करुण अनुभूति की फाँस लगी हुई है जिसके कारण उनकी अन्तर-दृष्टि में नोंक बराबर मिलती है। यह ठीक

है कि चन्द्रगुप्त जी की अनुभूति पर किसी गहन और प्रबल जिज्ञासा के थपेड़े नहीं पड़ रहे—इसी कारण उनकी कृतियों के पीछे कोई महान् सृजन-प्रेरणा या अन्तरप्रवेशिनी तीक्ष्ण बुद्धि का दबाव नहीं है। स्वभावतः चन्द्रगुप्तजी न महान सृष्टा हैं और न गहन विश्लेषक—उनकी नाट्य-प्रतिभा मे शक्ति और गहराई की मात्रा सीमित है। परन्तु करुण अनुभूति, रङ्ग-विलासिनी कल्पना और नुकीली अन्तर-दृष्टि उनके पास है, इसलिए इस नाटककार की सब से प्रमुख विशेषता है ट्रेजिक वातावरण की सृष्टि जिसमें वह त्रुटियाँ करते हुए भी बहुत सफल हुआ है। ट्रेजिक वातावरण उपस्थित करने के लिए चन्द्रगुप्तजी एक ओर सांकेतिक दृश्य उपस्थित करते हैं, दूसरी ओर कुछ प्रतीक पात्रों की सृष्टि भी करते हैं। अशोक के कई एक दृश्य केवल करुणा के रङ्ग को गाढ़ा करने के लिए ही नियोजित किये गये हैं। प्रारम्भ में कुछ अधिक सतर्क रहने के कारण इनमें काफी दृश्य निरर्थक एवं निर्जीव भी हो गए हैं फिर भी अधिकांश दृश्य इस दृष्टि से अत्यन्त प्रभावपूर्ण बन पड़े हैं—उदाहरण के लिए तीसरे अङ्क का चौथा दृश्य लिया जा सकता है—ज्यों ही अशोक चण्डगिरि के अनुरोध से आज्ञापत्र पर हस्ताक्षर करते हैं, चील की डलल्ल् आवाज सुनाई देती है। अन्तिम दृश्य भी अत्यन्त सुन्दर है। हाँ, सुमन के वध का दृश्य सशक्त होते हुए भी वीभत्स हो गया है। रेवा में लेखक का हाथ कहीं अधिक सध गया है—(एक तरह से रेवा में रेवा की ट्रेजेडी और ट्रेजिक के अतिरिक्त वातावरण और है ही क्या ?) पहला ही दृश्य लीजिए—वातावरण की वर्धमान सघनता, पुजारी की भविष्यवाणी और मृत्यु, समुद्र के विशाल वक्ष पर भटकता हुआ टूटा-फूटा भीमकाय जहाज—यह सब कुछ 'रेवा' के ऊपर बादल की भांति मंडराता रहता है। अन्तिम दृश्य का नाटकीय सौन्दर्य तो एकांत अद्भुत है—रेवा

की मैना का रुद्ध कण्ठ से 'शून्यमन्दिर में बनूंगी आज मैं प्रतिमा तुम्हारी!' गीत-पंक्ति दुहराते सभी को चकित करते हुए, उड़ जाना सम्पूर्ण वातावरण को एक साथ झंकृत कर देता है। इसके अतिरिक्त वातावरण की सृष्टि के लिए नाटककार ने अति मानवीय तत्व का भी उपयोग किया है—अशोक में कापालिक की भविष्यवाणी होती है और रेवा में पुजारी की। इन सभी प्रयोगों से नाटक का सारभूत प्रभाव तीव्र हो गया है।

वस्तु-विधान और चरित्र चित्रण उनका दूसरे दर्जे का है। कथावस्तु में इनकी रङ्गीन कल्पना का काफी हाथ रहता है। अशोक में शीला के व्यक्तित्व के द्वारा नाटककार ने राज-परिवार और बौद्ध-आश्रम से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं के समन्वय का साधारणतः सफल प्रयत्न किया है। रेवा में रेवा की कथा तो मानो पृष्ठभूमि में ही रहती है, उनका दूसरी कथाओं से विशेष कर प्रधान घटनावली से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है; उसका उपयोग तो मुख्यतया प्रभाव के लिए ही किया गया है। इस कथा मे कृष्णवर्मा का पाशविक वध एक भारी असङ्गति है, जो केवल वस्तु-विधान की ही त्रुटि नहीं है वरन् उद्देश्य से भी मेल नहीं खाती। अशोक के अनेक दृश्य—चौथा अङ्क लगभग सम्पूर्ण ही—कथावस्तु के लिए निरर्थक है। अशोक तीन अङ्कों का अत्यन्त सफल नाटक हो सकता था। चरित्र-चित्रण में विशेष मनोवैज्ञानिक भूलें न करते हुए भी चन्द्रगुप्त सृष्टा नहीं है। अशोक में शीला, अशोक और चण्डगिरि के व्यक्तित्व सजीव हैं—पर इनमें शीला और अशोक भी कुछ रूढ़ि-बद्ध से हो गए हैं—शीला के आन्तरिक सङ्घर्ष में वाञ्छित शक्ति का अभाव है—हाँ, चण्डगिरि के राक्षस-शरीर में मानवत्व की जो अन्तर्धारा बह रही है वह उसके व्यक्तित्व को जगमगा देती है। रेवा का करुण-गीतिमय व्यक्तित्व तो मोहक है ही, यशोवर्मा का दृढ़ परन्तु विनीत व्यक्तित्व

इस नाटक की मूल-चेतना के एकान्त उपयुक्त है। मकरन्द, गोविन्द और इन्दिरा, कला और संस्कृति के प्रतीक मात्र हैं।

चन्द्रगुप्तजी की टेकनीक अत्यन्त कलापूर्ण है। जैसा उन्होंने स्वयं मंजूर किया है, उनके नाटक स्टेज के लिये नहीं—सिनेमा के लिए ही लिखे गए हैं—और मेरी धारणा है कि उनकी सफलता का श्रेय इसी आरम्भिक बुद्धिमानी को है--रंगमञ्च का काल्पनिक बंधन स्वीकार न कर उन्होंने अपनी कल्पना को स्वच्छन्द विचरने का अवकाश दे दिया है। इसके अतिरिक्त उनका रंग-मञ्च से घनिष्ट परिचय भी है—वे मञ्च-प्रभाव उत्पन्न करने में अत्यन्त पटु हैं—पूर्व-संकेत, वैषम्य, पैथेटिक फैलसी, ट्रेजिक आयरनी आदि नाट्य-प्रयोगों का वे कुशल उपयोग कर सकते हैं। स्वभावतः उनका दृश्य-विधान अद्भुत होता है—रेवा के दृश्यों में अपूर्व जगमगाहट और प्रभावोत्पादकता है। दृश्यांतर (Scene within scene) का प्रयोग हिन्दी-नाटक के लिए नवीन कौशल है। उनके रंग-संकेत तीखे और साफ होते हैं—यद्यपि वे समस्या-नाटकों के जैसे लम्बे नहीं हैं। भाषा खासी चुस्त है—पर कहीं कहीं मौर्यकाल की राजकुमारियों के मुँह में उर्दू के अल्फाज दांत में कंकड़ी की भाँति बुरी तरह अटक जाते हैं।

चन्द्रगुप्तजी ने अशोक के निवेदन में अच्छा नाटककार होने का जो दावा किया है—उसको उन्होंने निभा भी दिया है।

ईसा—ईसा आज से अठारह वर्ष पहिले लिखा गया था। फिर भी मैंने उसकी गणना आज के नाटकों में दो कारणों से की है। एक तो वह वास्तव में है ही नवीन वस्तु—(उस समय के अन्य नाटकों से ईसा की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जायगा) दूसरे, उसको लोगों ने दूसरे संस्करण में अधिक ग्रहण किया है।

ईसा में इतिहास को केवल पृष्ठभूमि के ही रूपमें लिया गया

है—'मेरे हृदय में एक आग सुलग रही है—उसे ही मैंने इस नाटक के रूप में फूंक दिया है।'''उक्त अग्नि की ज्वाल माला में जब इतिहास जल गया तब मैं मुस्करा पड़ा।' लेकिन हमें इस आग में भड़क ज्यादा मिली, ताप कम। इसका प्रमाण यह है कि ईसा के जीवन में द्वन्द्व नहीं है, इससे उसके चरित्र की महत्ता अधिक व्यक्त नहीं हो पाती। ईसा अतिमानव है, परन्तु उसकी अतिमानवता भी कुछ निष्क्रिय (passive) सी है। उधर शान्ति में तो जैसे अपना कुछ हो ही न—इसलिये इन दो न्यूनाधिक अशक्त चरित्रों में कभी संघर्ष का अवसर ही नहीं आया—शांति के जरूसलम पहुँचने पर भी नहीं।

उग्र के स्वभाव और प्रतिभा के अनुकूल नाटक में जिंदादिली है—हास्य व्यंग्य है, शृङ्गार-विलास की गर्मी है, अहं का ज़ोर है और सब से अधिक भाषा की शक्ति है। उनके दो चरित्र ऐलाज़र और शॉवेल में काफी प्राण हैं—विशेष कर ऐलाज़र में-उसमें तो हृदय भी है। उसका हास्य रूढ़िमुक्त न होने पर भी कहीं-कहीं बड़ा सजीव हो गया है—'यदि सौन्दर्य्य भोजनीय होता'—अथवा 'वह प्रार्थना मुझे इतनी पसन्द है कि मारे प्रेम के भूख लग आती है।'

नाट्य शैली ईसा के समय के देखे बहुत नई है—स्वगत कम हैं—चीख-पटाख नहीं है। लेकिन फिर भी पारसी स्टेज का प्रभाव कुछ तो गजलनुमा गानों पर, और कुछ भावावेशमयी भाषा एवं उपदेश-प्रधान शैली पर है। नाटक में वाञ्छित पात्र का ठीक समय पर उपस्थित हो जाना भी उसी का प्रभाव है।—ईसा के अन्त से मुझे शिकायत है—वह व्यर्थ ही पीछे हटाया गया है। ईसा के बलिदान का प्रभाव पाठक की कल्पना पर ही छोड़ दिया जाता तो अच्छा था। बाद में बढ़ाने से उसका नाटकीय गुण क्षीण हो जाता है। ऐसा भी शायद उग्रजी

को युग के प्रभाव-स्वरूप—कवि, न्याय की रक्षा के निमित्त—करना पड़ा है।

हर्ष—सेठ गोविन्ददास के हर्ष में ऐतिहासिक तथ्य का निर्वाह इन सभी से अधिक हुआ है। उनका मत है कि "नाटक, उपन्यास या कहानी लेखक को यह अधिकार नहीं है कि वह पुरानी कथा को तोड़-मरोड़ कर उसे एक नयी कथा ही बनादे।" और उन्होंने हर्ष में इसी नीति का पालन कुछ अधिक कठोरता से किया है। इस अति से फायदा तो यह हुआ कि इतिहासज्ञ पाठक की ऐतिहासिक भावना (Historical Sense) को आघात नहीं पहुँचता, लेकिन नुकसान भी थोड़ा-बहुत हुआ ही। नाटककार की कल्पना कुछ अधिक बँध गई और इसी कारण हर्ष में सृजन का अभाव है और समृद्धि-वैभव से जगमगाते हुये नाटक के अनेक दृश्यों में प्राण नहीं है। सेठजी कुशल व्याख्याता हैं। उनके पास गहन नाटकीय परिस्थितियों की सर्जना करने वाली शक्ति और उनमें प्राण का सञ्चार करने वाली कविता कम और बौद्धिकता अधिक है। हर्ष के चरित्र के लिये असीम गौरव-भावना रखतेहुये भी नाटककार की तूलिका हमारे सम्मुख कोई महान व्यक्तित्व उपस्थित नहीं कर सकी। ईसा की तरह हर्ष के जीवन में भी कोई तीव्र द्वंद्व नहीं है।

हर्ष का वस्तु-विधान संगत है। कथा गरिमाविशिष्ट है और कलाकार ने सर्वत्र ही वांछित गौरव के साथ उसका विधान किया है। उसमें कहीं भी लघुता नहीं आनेपाई। माधवगुप्त और आदित्यसेन को छोड़ अन्य पात्रों के व्यक्तित्व विशेष सजीव नहीं। अलका, जयमाला और हुएनसाँग रेवा के पात्रो की तरह भावनाओं के प्रतीक ही हैं। वे वातावरण की कोमलता में योग देने के अतिरिक्त और कोई विशेष अर्थ-सिद्धि नहीं करते।

निम्न वर्ग के पात्रों के द्वारा (मालिन, फलवाली, लकड़ी वाली) कथा में जीवन की चटक आ गई है।

हर्ष का अन्त अनिश्चय में होता है। हमें पश्चिम की इस प्रिय शैली से कोई ऐतराज नहीं—पर यहाँ वह प्रयोग बाहर से लादा हुआ है अतः थोड़ा अस्वाभाविक है। दरसल आग लगने से पहले ही नाटक समाप्त होजाता है और पाठक उस रंग-संकेत को अनावश्यक समझ कर छोड़ देता है।

पुण्यपर्व—सियारामशरण के पुण्यपर्व की सांस्कृतिक ध्वनि एकान्त शुद्ध और सात्विक है। बोधि-सत्व सुतसोम और नरखादक ब्रह्मदत्त सत् और असत् के प्रतीक हैं। इनकी द्वन्द्व-भावना काफी तीक्ष्ण है। परन्तु दूर चिरगाँव में बैठे हुये सियारामजी का स्टेज से कभी कैसा भी संपर्क नहीं रहा, अतः पुण्यपर्व की नाट्य-रचना सफल नहीं है। लेखक ने द्वन्द्व का चित्रण करने के लिये ही नाटक-शैली को ग्रहण किया है। स्वभाव से इसमें सत् और असत् के द्वंद्व का सीधा-सादा अङ्कन है। रंग प्रभाव की ओरसे लेखक विरक्त है। प्राचीन बौद्ध-जीवन का वातावरण उपस्थित करनेमें तो लेखक को पर्याप्त सफलता मिली है, परन्तु उसके लिये भाषा का धरातल इतना ऊँचा उठा दिया गया है कि स्थान-स्थान पर वह बोझिल हो गई है। इस नाटक का हमें प्रतीक रूप ही ग्रहण करना चाहिये।

नैतिक चेतना

दूसरी प्रवृत्ति जो आज के कुछ नाटकों में सुव्यक्त मिलती है, वहहै नैतिक चेतना। इस प्रकारके नाटकों में एक भावुक आदर्श-वाद के दर्शन होतेहैं, परन्तु आदर्श के रूपका विश्लेषण करने पर हमें वहाँ जीवनके सूक्ष्म सौंदर्य के स्थान पर वाह्य और स्थूल सत्यों का आकर्षण ही अधिक हाथ लगता है। यह आदर्श आत्मा की उच्च प्रवृत्ति का मूर्त रूप नहीं—कर्तव्य की माँग है। सुधार-युग की दृष्टि एकान्त नैतिक अतएव स्थूल थी—समाज पर अभी स्वामी दयानन्द की कठोर नैतिकता का प्रभाव था। गांधी की सूक्ष्म आध्यात्मिक दृष्टि उसे प्राप्त नहीं थी, अतः वह जीवन की विषमताओं का केवल नैतिक समाधान ही कर सकताथा। मान्य विधान के विरुद्ध उसने क्रान्ति की अवश्य, पर वह भी उसके वाह्य रूपों से ही सम्बन्ध रखती थी। सामाजिक या राजनीतिक विधान की मोटी-मोटी त्रुटियों का तो उसने यथासंभव परिष्कार करने का प्रयत्न किया, परन्तु जीवन के अन्तर में पैठ कर सूक्ष्म तत्वों को वह ग्रहण न कर सका। परिणाम-स्वरूप आप देखें कि इन नाटकों की राष्ट्रीयता, देशभक्ति, एकता आदि सभी में

कर्तव्य की उत्तेजना है, प्राणों की प्रेरणा नहीं है। इन लेखकों की स्थूल दृष्टि पौराणिक आदर्श अथवा भारतीय इतिहास के सामन्तीय जीवन और सामन्तीय आदर्शों से आगे नहीं बढ़सकी और न टाइप को छोड़ स्वतंत्र व्यक्तित्व वाले चरित्रों की ही सृष्टि कर सकी—इसीलिये इतिहास के गहन तथ्यों का अन्वेषण और उनका मौलिक व्याख्यान भी उनकी शक्ति से बाहर ही रहा और यही कारण है कि इन सब में सूक्ष्म गति-तत्व का प्रायः अभाव मिलेगा। शैली इन सभी की भावोद्रेकमयी है। द्विजेन्द्र का प्रभाव उस पर स्पष्ट है, यद्यपि उनका कवित्व इनमें प्रायः दुर्लभ ही है। नैतिक चेतना के दो रूप हैं (१) राष्ट्रीय (२) पौराणिक।

———————

(अ) राष्ट्रीय-नैतिक

—हरिकृष्ण प्रेमी

इन नाटकों की मूल-प्रेरणा है राष्ट्रीयता (देशभक्ति)। इनकी भी आधारभूत कथा ऐतिहासिक है। प्रायः सभी ने मध्ययुगीन भारतीय इतिहास को ही ग्रहण किया है, परन्तु इनका उद्देश्य सांस्कृतिक नहीं राष्ट्रीय-नैतिक है। भारत के प्राचीन वीरों के शौर्य, देश भक्ति, स्वाभिमान, स्वातन्त्र्य-प्रेम का गौरव गान करते हुये एवं उनकी संकीर्णता, पारस्परिक कलह आदि का दुष्परिणाम दिखाते हुये देशवासियों में उदात्त भावनाएँ जागृत करना ही (शायद नाटक लिखने के अतिरिक्त) इन लेखकों की मूल धारणा है। इन नाटकों की आत्मा में द्विवेदी-युग (सुधार-युग) की नैतिकता है। प्रेमी के रक्षा-बन्धन, शिवा-साधना और स्वप्न-भंग में हिन्दू-मुस्लिम एकता का सन्देश है। उनके प्रतिशोध और मिलिन्द के प्रताप-प्रतिज्ञा में जातीयता की पुकार है, उधर राजमुकुट में स्वामिभक्ति और देशभक्ति का उज्ज्वल आदर्श है। सेठ गोविन्ददास के कुलीनता और उदयशङ्कर भट्ट के दाहर आदि में भी ये ही भावनाएँ हैं। इस प्रकार उपर्युक्त सभी

नाटकों का वातावरण सांस्कृतिक नहीं वरन् सामन्तीय (Feudal) है, फिर भी उसमें गत युग की राष्ट्रीय समस्याएँ प्रतिबिम्बित हैं। पराधीनता के अभिशाप और उनसे सम्बद्ध विद्रोह की भावनाएँ इन नाटकों मे गूँज रही है। प्रताप-प्रतिज्ञा में तो लेखक ने चन्द्रावत को जनता का प्रतिनिधि ही बना दिया है।

इन नाटकों की समानताओं को और आगे लेजाने में शायद खींचातानी करनी पड़े—आइये उनको अब अलग अलग देखें।

हरिकृष्ण प्रेमी

पहले प्रेमीजी को ले। प्रेमीजी कवि हैं—उनके हृदय में करुणा की आग है। आरम्भ में हमें उनकी कविता में एक उष्ण शृङ्गार भावना मिलती है—और सच पूछिये तो उनकी यह राष्ट्रीयता—उनके ये 'अग्नि गान' प्रतिक्रिया का ही परिणाम हैं—इस विषय में आप उन्हीं के शब्द सुनिये—'यह नाटक मैंने अपने ही मन को धीरज देने के लिये लिखा है। मैं प्रकृति से कोमल किन्तु बड़े-बड़े स्वप्न देखने वाला हूँ। अपने इसी स्वभाव के कारण आज मैंने अपने आप को भयङ्कर तूफान में फँसा लिया है। दूर तक कहीं कोई सहारा नजर नहीं आता।.........
निशाना अन्तर के तेज का दीपक न बुझादे इसीलिये थोड़ा धैर्य का स्नेह संचित करने मैंने यह नाटक लिखा है।'

हृदय की यह कोमलता आर्थिक संकट के आघातों से दुर्बलता बन जाये यह स्वाभाविक ही है। ऐसे व्यक्तित्व का विकास दो रूपों में सम्भव है—१, शृङ्गारिकता में २, आदर्शवादिता में। वह या तो १, नारी की अञ्चल-छाया में अपने मन को बहलाएगा "दुखी आदमियों के लिए शराब और औरत के सिवाय और कौन सहारा दे सकता है? अगर आप शराब नहीं पीते तो या तो आपको औरत की गोद में सर रखना होगा या फिर

ज़हर खाकर मर जाना होगा।" या २, फिर आदर्शों के द्वारा वह अपनी क्षति की पूर्ति करेगा। शृंगार का स्वच्छन्द और स्वस्थ उपभोग भी वह नहीं कर सकता क्योंकि उसमें वाञ्छित शक्ति का अभाव है। सामाजिक व्यवस्था पद पद पर शृंगार-साधना का विरोध करती है और उसमें इतना पौरुष नहीं कि उसके ऊपर उठ सके। अतएव उसकी शृंगार-भावना में रुग्णता अथवा विकृति (Morbidity) आजाना सहज सम्भव है। बस वह आदर्श का सहारा लेगा, पर आदर्श के क्षेत्र में भी वह कोई मौलिक सृष्टि न कर सकेगा, सीधी नीति की लीक पकड़ लेगा। क्योंकि उसके लिए किसी प्रकार के बल विद्रोह की आवश्यकता नहीं। जिस समय प्रेमी जी के व्यक्तित्व का निर्माण हो रहा था, नीति ने देश भक्ति और समाज सेवा का रूप धारण कर लिया था। अतएव वे तुरन्त उसी ओर आकृष्ट हो गए। श्री० हरिभाऊ उपाध्याय के नैतिक व्यक्तित्व ने उन्हें विशेष रूप से प्रभावित किया और उन्होंने अपनी शृंगार भावना को भी नैतिक रूप में ढालना शुरू किया। जिस प्रकार भक्ति काल में मनुष्य की शृंगार भावना धर्म का चोला पहन कर आती थी, इसी प्रकार सुधार युग में उसने राष्ट्रीयता में जाकर शरण ली। भक्ति-युग में जहाँ हमारे मन की नारी राधा या गोपी के रूप में अभिव्यक्त होती थी, वहां उसने गत युग में समाज-सेविका या देश सेविका का रूप धारण किया—नारी को भारत माता की साक्षात प्रतिमा—राष्ट्र की प्रेरक शक्ति, भौतिक स्तर पर सार्वजनिक 'बहिन जी' आदि मान कर पिछले युग का पुरुष अपनी वासना को तुष्ट करता रहा। प्रेमी जी के इन सभी नाटकों में नारी प्रकृत नारी-रूप में न आकर इसी रूप में आती है। इन सभी में एक विशेष पात्र जाग्रति का सन्देश-वाहक बन कर यत्र तत्र घूमता रहता है—चारिणी, विजया, वीणा। यह पात्र विशेष

व्यक्तित्व न रखते हुए भी नाटक के सारभूत प्रभाव में योग देता है। इन नाटकों का नैतिक उद्देश्य इतना अतिव्यक्त है कि कुछ पात्रों का अस्तित्व ही केवल उपदेश देने के लिए होता है—रक्षा-बंधन के शाहसाहब, प्रतिशोध के प्राणनाथ प्रभु, शिवा-साधना के रामदास, स्वप्न-भंग का प्रकाश—इन सभी का यही कर्त्तव्य-कर्म है।

परिणाम स्वरूप इनके विचार में मौलिकता और इसी कारण महानता नहीं है और न विविधता ही है। घूम फिर कर वही हिन्दू-मुस्लिम समस्या आजाती है। उसमें प्रत्यक्षता आवश्यकता से अधिक है। इसी लिए सजीव घटनाओं का चुनाव तो ये सरलता से कर लेते है, परन्तु उनमें प्राण नहीं फूँक सकते। इनके नाटकों में दृश्य अधिक से अधिक गतिमय हो सकते हैं, महान नहीं। इसी प्रकार इनके पात्र भी स्फूर्तिमान तो हैं, परन्तु उनमें अपना व्यक्तित्व नहीं—उदाहरण के लिए कर्मवती, बलदिवान, जीजाबाई, औरङ्गजेब, दारा कोई भी लिया जा सकता है। जिन भावनाओं के वे प्रतीक हैं उन्हें निकाल देने से उनके शरीर मात्र रह जाते हैं—जैसे देश-प्रेम, पितृ-भक्ति आदि के अतिरिक्त इन स्त्री-पुरुषों में अपनी उलझी वृत्तियों का कोई अन्तर-संघर्ष ही न हो। यदि कहीं संघर्ष आता भी है तो पात्र थोड़ी देर मे ही नैतिकता के सम्मुख आत्म-समर्पण कर बैठते हैं। हाँ, जो पात्र कवि की अपनी कल्पना की सृष्टि हैं उनमें एक करुण स्पन्दन अवश्य है—रक्षाबन्धन की श्यामा, प्रतिशोध की विजया।

परन्तु ये सभी अभाव एक गुण-विशेष को जन्म देते हैं। अतिशय गहनता या सूक्ष्मता न होने से इन नाटकों मे एक विशदता—एक प्रदर्शन-सौन्दर्य है। इसी कारण इनके दृश्य हमारे आज के प्रतिनिधि दर्शक-समाज के लिए, जिसका साहित्यिक धरातल अभी बहुत ऊँचा नहीं उठा, सरलता से ग्राह्य

हो जाते हैं। हमारा मध्य-प्रतिभ दर्शक यदि उनकी महत्ता से स्तम्भित नहीं हो जाता तो साथ ही उनको ग्रहण करने में अपने को असमर्थ भी नहीं पाता। क्योंकि रङ्ग-प्रभाव के लिए ये घटना पर ही निर्भर रहते हैं, किसी विशेष नाट्य-प्रयोग का उपयोग नहीं करते। इनके कथोपकथन में चुस्ती और जोश है—धार नहीं।

कुल मिला कर प्रेमीजी का हिन्दी नाट्य-साहित्य पर ऋण है वे साहित्य और रङ्गमञ्च का संयोग स्थापित करने में कुछ हद तक अवश्य सफल हुए हैं। इसके अतिरिक्त उनकी नाट्य-प्रतिभा का विकास भी क्रमिक रूप से होता गया है, धीरे धीरे नैतिक स्थूलता कम होती गई है। स्वप्न-भङ्ग उनका काफी मँजा हुआ नाटक है। और उनकी छाया को देख कर आशा होती है कि सामाजिक स्तर पर—आकर उनका अपना व्यक्तित्व और अच्छी तरह व्यक्त हो सकेगा।

प्रताप-प्रतिज्ञा—

प्रताप-प्रतिज्ञा के लेखक भी प्रेमीजी की तरह प्रगतिवादी राष्ट्रीय कवि हैं। प्रेमी में राष्ट्रीयता प्रतिक्रिया का परिणाम है, इनके जीवन का अङ्ग है। अतएव इनकी राष्ट्रीयता में तीव्रता होना स्वाभाविक ही है। प्रताप-प्रतिज्ञा का आरम्भ 'जगमल की पदच्युति और राणा के राजमुकुट-ग्रहण से होता है। यह पहला दृश्य अत्यन्त सजीव है। राणा मेवाड़ के राज-मुकुट को लोहे का मुकुट समझकर ग्रहण करते हैं और प्रतिज्ञा करते हैं—

"भवानी! तू साक्षी है! जनता जनार्दन ने आज मुझे अपना सेवक चुना है। मैं आज तुझे छूकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि जन्म-भर मातृ-भूमि मेवाड़ के हित में, तन, मन, धन, सर्वस्व अर्पण करने से मुँह न मोड़ूँगा। जब तक

चित्तौड़ का उद्धार न कर लूंगा, सत्य कहता हूँ—कुटी में रहूँगा, पत्तल में खाऊंगा और तृणों पर सोऊंगा।"

इधर तो राणा प्रतिज्ञा-पूर्ति के लिए प्रयत्नवान होते हैं, उधर उनके द्वारा शक्तसिंह के निर्वासन और मानसिंह के अपमान की दुर्घटना घटित होती है—जो समय से पूर्व ही मुगल-आक्रमण का कारण बनती है। इस युद्ध मे राणा की पूर्ण पराजय होती है और उन्हे राज्य छोड़ जंगल में शरण लेनी पड़ती है। राणा को यातनाएँ असह्य हो उठती हैं और अन्त में रानी और बच्चो की पीड़ा उन्हें सन्धि-प्रस्ताव के लिए प्रेरित करती है। यह दृश्य रस और अभिनय की दृष्टि से बहुत सुन्दर है। राणा के मानसिक संघर्ष के बीच मे बच्चो की रोदन-ध्वनि, दूसरी ओर उनका व्यंग्यात्मक अट्टहास और बच्चों का रोदन मिलकर रंग-प्रभाव को गाढ़ा कर देते हैं। बस पीड़ा के थपेड़े खाकर वे प्रतिज्ञा भूल जाते हैं और संधि का संदेश भेज देते हैं। परन्तु सौभाग्यवश पृथ्वीसिंह के चातुर्य्य से वह सन्देश अकबर के सामने जाली प्रमाणित हो जाता है और इस प्रकार राणा अपनी खोई निधि को प्राप्त कर फिर से उद्योगशील हो जाते हैं। तभी भामाशाह की सामयिक सहायता मिलती है और वे द्विगुण उत्साह के साथ अपने पाप का प्रायश्चित करने के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं। अन्त में राणा की मृत्यु का दृश्य है, जहाँ वे अमरसिंह की कायरता देखकर, मेवाड़ के अँधेरे भविष्य की कल्पना करते हुए प्राण-विसर्जन करते हैं। इस प्रकार कवि ने देश-काल के प्रभाव वश (राणा की सफलता होने पर भी) नाटक को दुःखान्त ही कर दिया है।

प्रताप-प्रतिज्ञा का मूलाधार राणा की प्रतिज्ञा है—सभी घटनाएँ उसी से सम्बद्ध हैं। इस दृष्टि से नाटक के वस्तु-विधान मे कुछ दोष है। (१) शक्तिसिंह और राणा के युद्ध और मिलन के दृश्यों का महत्व मूल वस्तु से स्वतन्त्र हो गया है (२)

अकबर की नौ रोज़ वाली हार भी निष्प्रयोजन है ; लेखक ने अकबर को व्यर्थ ही खल की भांति चित्रित किया है। (३) चरम सीमा के दृश्य में पृथ्वीसिंह के पत्र की सूचना मात्र देने से उसकी शक्ति बहुत कम हो गई है। (४) चन्द्रावत का चरित्र एक जीती जागती ऐतिहासिक असंगति है।

प्रस्तुत नाटक की शैली में प्राचीन एवं नवीन दोनों तत्वों का समावेश है—राणा के अन्तिम वचन भरत-वाक्य से हो जाते हैं। लेखक का प्रथम प्रयास होने के कारण उसकी टेकनीक अभी मंज नहीं पाई, फिर भी ओजपूर्ण कवित्व ने नाटक में जीवन फूँक दिया है. और पृथ्वीसिंह की वक्रोक्ति प्रायः चोट कर जाती है।

राजमुकुट—

रस की दृष्टि से राजमुकुट इन सभी से हल्का है। इसकी सूत्रधारिणी है धाई-माँ पन्ना-जो अपने पुत्र की बलि देकर स्वामि-पुत्र की रक्षा करती है, और अनेक विपत्तियों का सामना करती हुई अन्त में उदयसिंह को राजमुकुट पहना कर अपने कठोर कर्तव्य से उऋण होती है। इस नाटक मे कार्य (घटना) की कमी नहीं, परन्तु घटनाओं के विधान में कविता नहीं है। वैसे मोटे रूप से घटना-ऐक्य का निर्वाह सफलता से हुआ है और कथा के गति-विकास में वाञ्छित क्रम भी है। पात्रों में शीतल-सेनी और रणजीत ही सजीव हैं परन्तु वे भी टाइप हैं—शीतलसेनी की मृत्यु तो एकदम अस्वाभाविक होगई है।

रंग-प्रभाव उत्पन्न करने का साधारण-सा प्रयत्न राजमुकुट में किया गया है। मरघट और काली के मन्दिर के दृश्यों में आकर्षण है—और दो वीभत्स दृश्यों के अन्त में बहादुरसिंह का सुँघनी निकाल कर सूँघना भी 'रिलीफ़' का अच्छा उदाहरण है। परन्तु कई दृश्य बहुत लम्बे अतएव निर्जीव हो गये हैं।

....

इस प्रकार बिना किसी स्पष्ट दोष के होते हुए भी यह नाटक निष्प्राण है।

जयपराजय—

अश्क का जयपराजय नाटक इनसे कुछ भिन्न है। वैसे तो उसका आधार भी राजपूत भारत का इतिहास ही है जिसके ऊपर आन, प्रतिहिंसा, देश-गौरव आदि सामन्तीय भावनाओं एवं प्रजा-प्रेम जैसे नैतिक आदर्शों का चटकीला अङ्कन है। फिर भी सचमुच इतिहास तो उपलक्ष मात्र है। यह नाटक लेखक ने अपने मन की गांठ खोलने के लिए लिखा है "पिछले दो-तीन वर्षों में मुझे जिन कठिन परिस्थितियों से गुज़रना पड़ा, जिन अनदेखी विपत्तियों से जूझना पड़ा और जीवन के इस संघर्ष में मैंने जो आघात सहे, उन्होंने मुझे एक प्रकार से अशक्त ही कर दिया था।....जी चाहता था बैठा रहूँ, बस सारा-सारा दिन नीरव चुपचाप बैठा रहूँ; किन्तु जीवन युद्ध में जय-पराजय का चक्कर तो चलता ही रहता है, विजयी होकर अपने भाग्य को सराहना और पराजित होकर घुटनों में सिर रख कर बैठ जाना तो दुर्बलता है। निरन्तर चलना, निरन्तर लड़ते रहना ही तो जीवन है।" नाटक का नायक चण्ड जीवन की इसी जय पराजय का सुन्दर प्रतीक है। अन्तिम दृश्य में यह घटना बड़े कौशल से व्यक्त की गई है—जहाँ हरिसिंह (सेवक) चण्ड को बार-बार लौटने को प्रेरित करता है, पर चण्ड जय-पराजयमय जीवन-पथ पर अबाध बढ़ता जा रहा है। यह दृश्य बहुत ड्रेमेटिक है। अन्य प्रधान पात्रों में भी जीवन की यही जय-पराजय भावना फलीभूत हुई है—रणमल की पराजय उसकी विजय है और विजय पराजय। हंसा का सारा जीवन जयपराजय की ही शृङ्खला है। इस नाटक की मूल चेतना बड़ी सशक्त है अतः

उसके निर्वाह में भी सफाई है।

पहिले अङ्क के सभी दृश्य वातावरण का सृजन करने के लिये नियोजित किये गये हैं—यहाँ घटना के अभाव में दृश्यों के निर्जीव होने की काफी सम्भावना थी, परन्तु लेखक के रङ्गमञ्च-विषयक अनुभव ने उनका आकर्षण बनाये रखा है। फिर भी इस प्रकार चार घटना हीन दृश्यों का नियोजन बहुत साधु प्रयोग नहीं कहा जा सकता।—नाटक की प्रारम्भिक* घटना दूसरे अङ्क में दी गई है—यह घटना उस देश काल के सर्वथा अनुकूल तो अवश्य है लेकिन लेखक इसमें वांछित बल एवं सम्भवनीयता नहीं ला सका, और साधारण पाठक, मन्त्री एवं अन्य सभासदों की भाँति यही सोचता है कि चण्ड लड़कपन कर रहा है। लक्षसिंह का मज़ाक बड़ा मजेदार है, उसमें किसी प्रकार भी वासना का आरोप नहीं किया जासकता। नाटककार को यहाँ अधिक सतर्क और स्पष्ट होना चाहिये था।

चण्ड का चरित्र कुछ जरूरत से ज्यादा आदर्श बनाया गया है—इतना आत्म-निपेध तो भवभूति के राम में भी कठिनता से निभ सका था—परन्तु अन्त में आदर्श का बोझ बहुत कुछ हलका हो गया है और यह त्रुटि दूर हो गई है। हंसा में बहुत सजीवता है—और भारमली! वह तो देवसेना और मालविका के गौरव की अधिकारिणी है! भारमली इसयुग की अमर सृष्टि है।

नाटक में अभिनय तत्व का सुन्दर समावेश है। हाँ टेकनीक में अश्क के प्रयोग बहुत ज्यादा स्पष्ट हो गये हैं—जैसे चरित्र-

---

* दरवान—महाराज! मंडोवर से एक ब्राह्मण नारियल लाये हैं।

प्र० मन्त्री—जाओ उन्हें सम्मान पूर्वक ले आओ।

लक्षसिंह—(मूँछों पर ताव देते हुये मुस्कराकर) युवराज के लिये होगा, हम बूढ़ों के लिये नारियल कौन लाएगा।

चित्रण में वैषम्य का प्रयोग (चण्ड, लक्ष्मसिंह, राघव बार-बार स्वयं ही अपने चरित्र वैषम्य पर प्रकाश डालते हैं)—अथवा पूर्व संकेत के दृश्य— मंडोवर की रानी का स्वप्ना—भावमली का दुस्वप्न आदि)। ये प्रयोग ईषद् अव्यक्त ही रहने चाहिये, तभी उनका सौन्दर्य है।

अन्त मे यह नाटक इस श्रेणी के अन्य नाटकों से इस बात में भिन्न है और शायद श्रेष्ठ भी कि उसके उद्देश्य में कम से कम, नैतिकता अधिक व्यक्त नहीं हो पाई। उसका सारभूत प्रभाव मन पर बहुत सुंदर पड़ता है, उसमें द्विधा की गुञ्जायश नहीं। परन्तु उसके अङ्गों में परिष्कार की कमी है—यह कौन अस्वीकृत कर सकेगा ?

दाहर—

हमारा देश वर्ण भेद, प्रांत-भेद एवं अध्यात्मजन्य अकर्मण्यता आदि दुर्गुणों के कारण किस प्रकार चिर-दासता की शृङ्खला में बँध गया है, यही दाहर का भी विषय है। "हमारी जातीयता में धर्मवाद की निकम्मी, थोथी रूढ़ियों ने हमें विवेक से गिरा दिया, मनुष्यत्व से खींच कर दासता, भ्रातृ विद्रोह, विवेक शून्यता के गढ़े मे ले जा कर पीस दिया।"

दाहर के कथा-विकास में नाटकोचित उतार चढ़ाव और विकास का अभाव है—अतएव उसमें संघर्ष दो महान तत्वों (चाहे वह चरित्र के हों अथवा घटना के) के बीच तन नहीं गया। उसके दृश्यों मे इसीलिये बल नहीं आ सका। नाटक में ऐसी परिस्थितियाँ विरल नहीं हैं, परन्तु नाटककार उनमें प्राण-प्रतिष्ठा नहीं कर पाया। उदाहरण के लिये वह दृश्य लिया जा सकता है जहाँ मुहम्मद-बिन-कासिम खलीफा का हुक्म सुन कर खुशी से एक सच्चे इस्लाम के बन्दे की तरह अपना जीवन

अर्पण कर देता है। किन्तु लेखक ने इस घटना को दृश्य न बना कर सूच्य ही रहने दिया है। दाहर के पात्रों की व्यक्तित्व-रेखाएँ स्पष्ट और पुष्ट हैं--वे सभी कम-से कम सजीव अवश्य हैं--मानूँ, कासिम और सूर्यदेवी में जीवन है--और परमाल में भोला लालित्य।

टेकनीक की दृष्टि से यह नाटक--भट्टजी के सभी बड़े नाटक--असफल हैं। उनका रङ्गमञ्च से सीधा सम्बन्ध नहीं है, दूसरे संस्कृत का प्रभाव उन्हें मुक्त नहीं कर सका--और विदेश की कला को भी वे सम्यक् रूप में ग्रहण नहीं कर सके। ट्रेजिक वातावरण का सृजन करने के लिये उन्होंने रोमाण्टिक ड्रामा के अत्यन्त स्थूल प्रयोग काम में लाये है। मुहम्मद बिन कासिम की अन्तरात्मा उसी तरह दुःस्वप्न अथवा प्रेत का रूप धारण करके उसे त्रास देती है जिस तरह विदेश के अथवा डी० ऐल० राय के नाटकों में होताहै, नाटककार यह भूल गया है कि मुहम्मद बिन कासिम जैसे दृढ़-धार्मिक एवं विश्वासी व्यक्ति केलिये जो इस्लाम के नाम पर युद्ध में दाहर को पराजित करता है, इस प्रकार का आत्मिक त्रास सम्भव ही नहीं था। दाहर का कञ्चुकी शेक्सपियर के क्लाउन का भारतीय संस्करण है।

नाटक की भाषा-शैली पर प्रसाद की दर्शन-कवित्वमयी शैली और संस्कृत की रूपक लदी भाषा का स्पष्ट प्रभाव है। स्वभावतः उसमें इन दोनों के गुण दोष वर्तमान हैं। एक ओर यदि उसमें सूक्तियों का वैभव मिलता है तो दूसरी ओर वह स्टेज के अनुपयुक्त भी हैं।

कुलीनता—

सेठ गोविंददास का कुलीनता नाटक, विचार और शैली की दृष्टि से इसी श्रेणी में आता है। इसमें विचार (Idea) है

कुलीनता का स्वरूप, जो गांधी-युग के दूसरे चरण में अत्यन्त महत्वपूर्ण हो उठा था। वास्तव में यह भी मानव जीवन की एक चिरन्तन समस्या है जो सभी देशों और कालों में किसी न किसी रूप में वर्तमान रही है—कुलीनता जन्म-जात है, अथवा स्वतः अर्जित? रूढ़िवादी समाज इसे सदैव बलपूर्वक जन्मजाति घोषित करता रहा है, और महत्वाकांक्षी व्यक्ति सदैव तड़पकर इसके प्रति विद्रोह करता आया है। आज से सहस्त्रों वर्ष पूर्व महारथी कर्ण को भी यह कहने की आवश्यकता पड़ी थी—'दैवायत्तं कुलेजन्म मदायत्तं तु पौरुषम्'। इसी प्रकार भारत से सहस्त्रों मील दूर पर वेनिस में शायलॉक को भी ऐसे ही मर्म वाक्य कहने पड़े थे : Hath not a jew eyes ? Hath not a jew hands, organs, dismensions, senses, affections passions ?...If you prick us do we not bleed ? If you tickle us, do we not laugh ? If you poison us, do we not die ? and if you wrong us shall we not revenge ?

और आज से कुछ वर्ष पूर्व ही द्विवेदी युग के लेखक के सम्मुख भी यही प्रश्न उपस्थित हुआ था :

> इन्हें समाज नीच कहता है; पर हैं ये भी तो प्राणी।
> इनमें भी मन और भाव हैं, किन्तु ; नहीं वैसी वाणी॥

प्रस्तुत नाटक का नायक यदुराय भी इसी चोट से तड़प रहा है :

'ये हमें पशु से भी निकृष्ट समझते हैं। हम में कितने ही उच्च गुण क्यों न हों, हम उनके राज्यों में किसी भी उत्तरदायी पद पर आसीन नहीं हो सकते। हम कितने ही सुन्दर क्यों, न हों हम उनकी कन्याओं से विवाह नहीं कर सकते। हम कितने ही स्वच्छ क्यों न हो, हमारा छुआ हुआ भोजन उनके खाने योग्य नहीं रह जाता। इतना ही नही, यदि देश पर विपत्ति आवे

तो यद्यपि हम उनकी अपेक्षा इस देश के पुराने निवासी हैं, हमें अपने देश की रक्षा करने का भी अधिकार नहीं है।"

इस नाटक की मशीनरी अङ्ग्रेजी के क्लासीकल नाटकों की जैसी है—एक नायक, दूसरा खल नायक : दोनों का नायका के लिये प्रतिद्वन्द्व होता है। प्रारम्भिक परिस्थितियाँ नायक के प्रतिकूल हैं—नायका का पिता भी विरोध करता है, परन्तु नायका का ममत्व उसी पर है। अन्त में वह अपने व्यक्तिगत पौरुष के बल पर खल नायक को पराजित करके विजय-श्री के साथ नायका का वरण करता है। ये पात्र सभी नैतिक भावनाओं के प्रतीक हैं—उनका अपना पृथक अस्तित्व नहीं है—इसका ज्वलन्त प्रमाण है विन्ध-बाला। वह जिस नैतिक आदर्श का प्रतिनिधित्व करती है उसके अनुसार अपने देशद्रोही पति को मृत्यु का कारण बनने में भी संकोच नहीं करती। परन्तु फिर भी उसका व्यक्तित्व उसी एक रूढ़ि-बद्ध ढाँचे में ढाला हुआ है—उसमें जैसे हिन्दू नीति शास्त्र से पृथक कुछ और है ही नहीं। नाटक का वस्तु-विधान स्वच्छ और निर्दोष है, मुख्य और अमुख्य वस्तु का सङ्गठन, और घटनाओं के क्रम का निर्वाह कुशलता से हुआ है। दृश्यों का अङ्कन अत्यन्त सूक्ष्म विस्तार के साथ किया गया है—जिनमें प्राचीन वैभव के सुन्दर चित्र हैं, और यही इस नाटक की नवीनता है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने भी अमर राठौर, अजितसिंह आदि इसी प्रकार के नाटक लिखे हैं। शास्त्रीजी की वाणी में ओज है—मध्य श्रेणी के शारीरिक विलास के चित्र खींचने में आप पटु हैं, राजपूताने के सामाजिक जीवन का भी आपको निकट अनुभव है, परन्तु उनके नाटकों में नाट्य-तत्त्व क्षीण है—नाटक का ढाँचा कथा के ही लिये लिया है, अतएव उसमें कथा का ही महत्त्व है और घटनाओं की भीड़ लगी हुई है। पात्र भी टाइप हैं। कथोपकथन में शक्ति और जीवन है, कुछ दृश्यों में रङ्गीनी।

नायक का सामन्तीय व्यक्तित्व

सभी राष्ट्रीय-नैतिक नाटकों में एक व्यक्ति की प्रधानता है। कुछ के नाम तो स्पष्टतः नायक के ही नाम पर रखे गये हैं—दाहर, प्रताप प्रतिज्ञा; कुछ के शीर्षक इतने झीने हैं कि एक व्यक्तित्व की प्रधानता उनमें साफ झांकती नजर आती है—जय पराजय, राजमुकुट, कुलीनता, प्रतिशोध, रक्षा-बन्धन, स्वप्न-भङ्ग परन्तु चूँकि इन नाटकों की आत्मा में नीति का कोई न कोई प्रश्न है, अतएव यह व्यक्ति सर्वथा स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं रखता। समस्या-नाटकों की भाँति यहाँ भी पात्रों का व्यक्तित्व (विशेषकर, प्रधान पात्र का) सिद्धान्त-प्रतिपादन का माध्यम होता है। परिस्थिति के भँवर में पड़े हुए व्यक्ति के अपने घात-प्रतिघातों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन इनमें नहीं मिलता। फिर भी समस्या नाटकों से इनमें यह भेद है कि जहाँ उनमें प्रायः एक व्यक्ति की प्रधानता न होकर अनेक व्यक्तियों का सामाजिक सङ्घर्ष ही प्रमुख होता है, वहां इन नाटकों में घटना-केन्द्र अनिवार्यतः एक व्यक्ति ही है। इसका एक विशेष कारण है—हमारी धर्म भावना में मूलत व्यक्तिवाद है, और चूँकि धर्म का स्थूल व्यवहार-पक्ष ही नीति है, इसलिये नीति की रक्षा का भार समष्टि पर न रह कर सदा से व्यष्टि पर ही निर्भर रहा है—हमारी वीर-पूजा का यही रहस्य है और इसीलिये हमारे नाटक के नायक की परिभाषा रही है 'धीरोदात्त' जिसमें व्यक्ति के निखिल गुणों का समाहार मिलता है। इसके अतिरिक्त जिस ऐतिहासिक काल को आधार मानकर ये नाटक लिखे गये हैं उसमें व्यक्ति का एकाधिकार था—नीति का पोषक व्यक्ति (राजा या महात्मा) ही हो सकता था—समाज का कार्य तो अनुसरण करना था; और इधर हमारे आधुनिक युग के जिस चरण (सुधारयुग) की विचारधारा

इनमें बह रही है, उसमें भी व्यक्तिवाद ही बोलता था—समाज में स्वामी दयानन्द (यद्यपि वे इस समय जीवित नहीं थे), राजनीति में म० गांधी और साहित्य में द्विवेदीजी। जागृति के उस प्रथम चरण में पुरानी वीर-पूजा फिर से जाग उठी थी।

इस प्रकार इन नायकों के व्यक्तित्वों में जो बहुत कुछ सिद्धान्तों के प्रतीक हैं, दो विभिन्न युगों के प्रतिनिधि सिद्धान्तों का समन्वय मिलता है १—सामन्तीय युग के—जो इनका ऐतिहासिक आधार है, २—सुधार युग के—जो इनके स्रष्टाओं का प्रेरणा-काल है। इन दोनों कालों का सम्बन्ध भी आकस्मिक नहीं है। द्विवेदी युग रीतिकाल के विरुद्ध प्रतिक्रिया का युग था। इसमें रीतिकाल की शृङ्गारिकता, एवं कोमलता के विरुद्ध नीति एवं कठोर कर्मठता का विद्रोह गतिमान था, और चूँकि ये सभी भावनाएँ सामन्तीय युग में प्रचुर मात्रा में मिलती थीं अतएव द्विवेदी काल की मनोवृत्ति वाले लेखक सहज ही उस ओर आकृष्ट हो गये।

सामन्तीय विधान के अनुसार राजा देश को छोटे छोटे भू-भागों में विभक्त कर उनका पूर्णाधिकार सामन्तों को दे देता था और ये सामन्त लोग उसकी कृपा के बदले में राजा को चौथ देते थे या आवश्यकता पड़ने पर सैन्य बल से सहायता देते थे। इसका परिणाम यह होता था कि ये लोग अपने को स्वत:सम्पूर्ण समझ कर अपने ही में मस्त रहते थे। अतएव इनकी प्रवृत्ति में अहं का जोर बढ़ना स्वभाविक ही था। यही सामन्तीय अहं उपर्युक्त नाटकों के नायकों में स्पष्ट रूप से मिलता है। महाराणा प्रताप, चण्ड, यदुराय, छत्रसाल, दाहर सभी का तीखा अहं भयङ्कर स्वाभिमान की भावना में व्यक्त होता है जिसके कारण ये लोग प्राणों को हथेली पर लिये फिरते हैं। इन्हे अपने जीवन के प्रति जैसे मोह ही नहीं है। सामन्तीय जीवन की दूसरी

विशेषता थी दृष्टिकोण का सङ्कोच। अपने अपने ठिकानों या राज्यों में ही सम्पूर्ण दृश्य जगत के स्वामी बन कर रहने वाले इन सामन्तों की दृष्टि व्यापक कैसे हो सकती थी—उसमें मानवता की सार्वभौम भावनाएँ उठना सम्भव नहीं था—राष्ट्र की भी चेतना इन लोगों को नहीं थी। ये लोग तो मातृ-भूमि या अधिक से अधिक हिन्दू धर्म के सेवक थे। अतएव देशभक्ति का अर्थ उस समय भारतीयता का नहीं था—वह या तो मेवाड़-भक्ति (बुन्देल खण्ड की भक्ति या कुछ और) और या हिन्दू-धर्म की भक्ति की ही पर्य्याय थी। और उसमें भी मेवाड़ या बुन्देलखण्ड की जनता अथवा हिन्दुओं के हिताहित की भावना इतनी नहीं थी जितनी अपनी या अपने वंश की आन का प्रश्न था। परन्तु चूँकि इन नाटकों के सृजन करने वाले नाटककार पिछले चरण की राष्ट्रीयता से प्रभावित हैं अतः प्रेमी अथवा मिलिन्द जैसे लेखकों ने राष्ट्रीयता अथवा प्रजातन्त्र की भावनाओं का आरोप इतिहास की बलि देते हुए भी कर दिया है।

इन नायकों की तीसरी विशेषता है भावनाओं का प्रकृत अनगढ़ रूप। सामन्तीय जीवन सरल, सहज एवं प्राकृतिक था—उसका क्रीड़ा क्षेत्र प्रायः नगरों से दूर मुक्त ग्राम वातावरण ही था—नागरिक जीवन की कृत्रिमता और उसके साथ ही उसका परिष्कार और सूक्ष्मता उसमें नहीं थी। अतएव इन नायकों के व्यक्तित्वों में मानवीय वृत्तियाँ (instincts) अपने प्रकृत रूप में मिलती हैं। उनका व्यक्तित्व आज की दृष्टि में अधिक संस्कृत एवं सूक्ष्म—कोमल नहीं है। वह सरल है, उसमें ग्रंथियाँ और सूक्ष्म उलझनें नहीं हैं और न विरोधी गुणों का अन्तर्सङ्घर्ष ही। प्रेम को ये पति पत्नी सम्बन्ध अथवा शृङ्गार—(स्वस्थ शारीरिक उपभोग) से भिन्न नहीं जानते। इसलिए इनमें गीतितत्व अत्यन्त क्षीण है। इसके अतिरिक्त ये लोग बुद्धि-व्यवसायी नहीं कर्मठ हैं। धर्म के

भावना, कर्म और ज्ञान इन तीनों अङ्गों में ये केवल कर्म को ही—और उसके लिए जितनी भावना की आवश्यकता है उतनी भावना को ग्रहण कर सकते हैं, स्वभावतः उनकी प्रकृति में जिस आदर्शवाद के दर्शन होते है वह सूक्ष्म आध्यात्मिक न हो कर स्थूल नैतिक है—अर्थात् इनकी नीति सर्वथा रूढ़ि-बद्ध है, उसका रूप परम्परागत ही है। उसमें तर्क या सूक्ष्म चिन्तन के लिए स्थान नहीं हैं। चण्ड की प्रतिज्ञा इसकी साक्षी है। मण्डोवर की राजकुमारी को लक्ष्य करते हुए जहाँ पिता के मुँह से एक बार यह निकल गया कि हम तो अब बुड्ढे हो गये, हमारे लिए नारियल कौन लाएगा, बस चंड उसे निर्विवाद माता मान बैठा। उसने यह भी समझने का प्रयत्न नहीं किया कि पिता के इस कथन में वासना की गन्ध भी नहीं है। प्रताप, छत्रसाल, यदुराय, कर्मवती आदि के व्यक्तित्वों में हर्ष, ईसा, रेवा आदि की आध्यात्मिकता एवं संस्कृति नहीं है। पाँचवीं प्रवृति जो इतनी स्पष्ट नहीं है वह है इन नायकों की पराजय-भावना। गजब की शक्ति और उत्साह होने पर भी ये सभी वीर सैनिक हृदय के अन्तराल में एक गहरी पराजय भावना लिये हुए हैं—प्रताप, यदुराय, दारा—किसी के भी हृदय की परीक्षा कर लीजिए। इसका कारण कुछ तो उस समय का इतिहास ही है जब देश मुसलमानों की प्रभुता को अनिवार्य मान स्वीकार सा ही कर बैठा था—उसके विरुद्ध सारे प्रयत्न निष्फल हो रहे थे। पर उससे भी अधिक उत्तरदायी है इन नाटको की प्रेरणा अथवा रचना काल की प्रवृत्ति। जिस समय ये नाटक लिखे गए हैं—वह समय जागृति, स्फूर्ति और कर्मण्यता का होते हुए भी निराशावाद से ग्रस्त था। हमारे उत्साह, हमारी कर्मण्यता का परिणाम क्या होता था? राजनीति के क्षेत्र मे पर्वत के समान अटल ब्रिटिश साम्राज्य से कांग्रेस व्यर्थ में टक्कर ले रही थी—सामाजिक क्षेत्र में रूढ़ियों के अजगर से आर्यसमाज का लेओकोऊन (Laocoon) व्यर्थ ही जूझ रहा था।

(आ) पौराणिक-नैतिक

इन्हीं नाटकों से नीति-भिन्न कुछ और भी नाटक हैं जिनका आधार पौराणिक है और उद्देश्य नैतिक। इन्हें हम पौराणिक-नैतिक नाम दे सकते हैं। इन नाटकोंमें आज के प्रश्नों का सीधा आरोप नहीं है। इनके प्रश्न व्यक्ति और समाज के वे स्थूल, नैतिक प्रश्न हैं जो अनादि काल से चले आए हैं। अनीति पर नीति की विजय दिखाना और कुछ अंश में प्राचीन गौरव-भावना को जागृत करना इन नाटकों का उद्देश्य है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार के उद्देश्य के पीछे कोई गहरी प्रेरणा नहीं हो सकती। इन नाटकों पर प्रत्यक्ष रूप से संस्कृत नाटकों का प्रभाव है। संस्कृत के उन 'महानाटकों' की भाँति जो प्राकृत-काल में रङ्ग-मञ्च के लुप्त हो जाने पर लिखे गए थे इनकी कथा का भू-भाग अत्यन्त विस्तृत है अतएव इनमे घटनाओं की भीड़ है और जैसा प्रबन्ध काव्य अथवा उपन्यास में होता है, ये घटनाएँ एक-दूसरे से निकलती चली जाती हैं। उनके दृश्य साफ़ अलग-अलग नहीं हैं—वे प्राय: बहुत छोटे हो गए हैं और इसीलिए स्वभावतः उनमें एकाग्रता के अभाव के कारण जीवन

और शक्ति का भी अभाव है। उदाहरण के लिए पं० उदयशङ्कर भट्ट के सगर-विजय की घटना-सूची देखिए—

"अपने पराजित एवं घायल राजा बाहु को ढूँढ़ते हुए सैनिकों का वार्तालाप एवं रानी विशालाक्षी का आततायी को मार डालना, छोटी रानी का सौतिया-डाह और क्रोधान्ध अवस्था में अपने पति की मृत्यु पर भी न पसीजना......राजा की मृत्यु के पश्चात् सगर्भा रानी का और्व ऋषि के उपदेश से सती होने से रुकना, छोटी रानी बर्हि का सैनिकों को चकमा देकर छूट जाना, और्व-ऋषि के आश्रम में विशालाक्षी के पास सोए हुए बालक को मार डालने के लिए बर्हि का चुपचाप उठा लेजाना.... दुर्दम के कारागार से महाराज के सहायक सैनिक कुन्त और त्रिपुर का युक्ति-पूर्वक भाग निकालना, तथा नदी में फैंकती हुई बर्हि के हाथ से बालक सगर को लेकर चल देना, इधर पुत्र-विरह में विक्षिप्त विशालाक्षी का सरयू में आत्म-हत्या के निमित्त कूदना और दो आदमियों द्वारा उसे बर्हि समझ कर पकड़ ले जाना, दुर्दम द्वारा लगाए गये नवीन 'कर' के विरोध में नागरिकों का वार्तालाप एवं राजगुरु वशिष्ठजी से उचित परामर्श लेकर कुन्त द्वारा लाये हुए बालक की रक्षा का भार माता अरुन्धती को सौंपा जाना, दुर्दम का भयातुर एवं दिग्मूढ़ की तरह मनमानी आज्ञाएँ देना सत्यनिष्ठ नागरिकों को फाँसी पर चढ़ाया जाना, वशिष्ठ के आश्रम में ऋषि कुमारों के साथ खेलते बालक सगर का अपने क्षत्रियोचित गुणों का परिचय देना, बर्हि का वशिष्ठ के आश्रम में आकर रात के वक्त सोए हुए सगर को फिर उठा ले जाना, माहिष्मती के कारागार में पुत्र-वियोग में विक्षिप्त विशालाक्षी का मूर्छित होना, बालक सगर के खोये जाने पर वशिष्ठजी का ब्रह्मतेज जागृत होना, नागरिकों का दुर्दम के विरुद्ध षडयन्त्र रचना, प्रजा का विद्रोह, दुर्दम के कारागार को तोड़ कर

सगर कुमार का निकल जाना, वहीं बर्हि को पकड़ने वाले सैनिकों से सगर का युद्ध करना और दुर्दम का पकड़ लिया जाना, अयोध्या के कारागार में दुर्दम का अपने मन्त्री त्रिपुण्ड्रक से वार्तालाप, विशालाक्षी का आगमन और बर्हि के नदी मे डूबने पर दुःख प्रकट करना, अन्त में रानी विशालाक्षी के देहत्याग का समाचार पाकर दिग्विजयी सगर का खिन्न होना......और फिर सगर का माता की आत्मा-तुष्टि के लिए राष्ट्र-सेवा की भीष्म-प्रतिज्ञा करना" यह तो भूमिका-लेखक के शब्दों में इस नाटक के कथानक का सार है।

इसी प्रकार उग्र के 'गङ्गा का बेटा' में भीष्म के जीवन की कथा जन्मजन्मान्तर तक फैली हुई भूमिका के सहित दी गई है। वस्तु का विस्तार अष्टवसुओं के शाप से लेकर भीष्य की शर-शैया पर्यन्त है और उसके साथ ही ब्राह्मण ज्वालादत्त के आयु-परिवर्तन की कहानी भी उपकथा के रूप में जोड़ दी गई है।

इन नाटकों की परम्परा संस्कृत के महावीर-चरित, बाल-रामायण आदि महानाटकों से चल कर (यद्यपि इनमें अङ्कों की संख्या उतनी नहीं है) पं० माखनलाल चतुर्वेदी के कृष्णार्जुन युद्ध में होती हुई 'सगर-विजय' और 'गङ्गा का बेटा' तक आती है।

समस्या-नाटक

इस शताब्दी के प्रारम्भ में जिस प्रकार विदेश में रोमांटिक ड्रामा के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई, इसी प्रकार आज से कुछ पहले यहाँ भी। वहाँ लक्ष्य था शेक्सपियर यहाँ द्विजेन्द्रलालराय। एक अन्तर है—योरोप का चिर-जागृत ड्रामा जहाँ अनेक मंज़िल पार करता हुआ इस प्रतिक्रिया पर पहुँचा, वहाँ हिन्दी का नाटक इब्सन और शॉ से आकृष्ट होकर एक साथ रोमांस को छोड़ समस्या पर आगया। ख़ैर, कुछ भी हो, हिन्दी नाटक की यह प्रवृत्ति आज काफ़ी प्रबल हो उठी है और आज के नाटक साहित्य में समस्या-नाटक ही शायद उसका सब से सजग रूप है। आज विभिन्न व्यक्तित्व वाले लेखकों ने इसे हाथ लगाया है। लक्ष्मी-नारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, अश्क, पृथ्वीनाथ शर्मा, भुवनेश्वर, उदयशंकर भट्ट, इत्यादि नाटककार आपस में कोई विशेष साम्य नहीं रखते। फिर भी उनमें कुछ प्रवृत्तियां स्पष्टतया समान हैं।

१—ये नाटक प्रतिक्रिया का परिणाम हैं। यह प्रतिक्रिया है भावुकता और रोमांस के विरुद्ध। इन लेखकों का दावा है

'रोमांस और भावावेश बहुत पुरानी चीजें हो गईं—यह तो ज़िन्दगी की बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या का युग है।" अनेक आकर्षक रूढ़ियों के अन्दर सत्य का रूप छिप गया है, यह नाटककार रूढ़ि के परदे को फाड़कर उसे ही दिखाने का प्रयत्न करता है। इसीलिए सोने के अतीत मे शरण न लेकर वे आज के कीचड़ मिट्टी से सने वर्तमान को ही पकड़ते है और उसी के जीवित सत्यों का उद्घाटन कर पाठक को उनके सम्मुख आँख मिला कर खड़े होने को बाध्य करते हैं। सुगर कोटेड (मधुवेष्टित) कुनेन की गोली मे इन्हें विश्वास नहीं—ये चाहते हैं कि मरीज़ समझ से काम ले और कुनेन की कड़वाहट का उसके गुण के कारण स्वागत करे। इसीलिए तीखा सत्य इन नाटकों में आपको स्थान स्थान पर मिलेगा। इतना सब कुछ होते हुए भी भावुकता का विरोध इन लेखको ने अधिक सतर्क हो कर किया है और इसीलिए उसमें दम्भ की गन्ध आ गई है। आप सच मानिए इनमें कोई भी लेखक ऐसा नहीं जो रोमांस और भावुकता का आँचल छोड़ सका हो। पश्चिमी विद्वानों की तो ऐसी सम्मति इब्सन और शॉ तक के विषय मे है।

२—इसका एक अप्रत्यक्ष प्रमाण है इन नाटकों का सीमित क्षेत्र। मैं समझता हूँ इनमें से अधिकांश नाटकों की मूल समस्या सैक्स ही है। समस्याएं और भी हैं लेकिन उनका आरोप इसी मूल-भावना पर ही हुआ है।

३—इन नाटकों की शैली मनोविश्लेषण (Psycho-analysis) की शैली है। इनके पात्र अपने या दूसरों के मनोभावों की तहों को खोलते हुए प्रतीत होते हैं। उनके वक्तव्य में प्रायः सस्वर विचार (thinking aloud) का आभास मिलता है। शॉ के नाटकों जैसा ज़ोरदार तर्क इनमें नहीं है।

४—इनका टेकनीक जैसा मैं प्रारम्भ में संकेत कर आया हूँ

पश्चिम के समस्या-नाटकों से काफ़ी प्रभावित है। नाट्यशास्त्र की रूढ़ियाँ एकदम तोड़ दी गई हैं। कथा का विभाजन, उसकी गति का कोई ख़ास नियन्त्रण इनमें नहीं है। इनका अन्त प्राय: दुख मे—या अनिश्चय में होता है क्योंकि समस्या का उठाना जितना सरल है समाधान उतना नहीं। गीत नृत्य का प्रयोग नही ही है। स्वगत, अर्ध-स्वगत, अश्राव्य अथवा नियत-श्राव्य इनमें रूपान्तरित होकर आये है। रंग-संकेत लम्बे हैं, चित्रों में बारीकी है किन्तु कई जगह उनमें त्रुटियाँ भी रह गई हैं जिसका कारण रङ्गमञ्च के प्रत्यक्ष ज्ञान का अभाव ही है। अङ्कों में निश्चित् दृश्य विधान नहीं है—प्राय: किसी दृश्य के बीच में परदा उठ जाता है। कैनवास पर साधारण मकान, ड्राइङ्ग रूम के अतिरिक्त कही-कहीं ऐसे रोमान्टिक प्रकृति-चित्र भी है जो शायद रङ्गमञ्च पर ही दिखाये जा सकें।

आज समस्या-नाटक एक साथ क्यों लोकप्रिय होगया? वास्तव में इस प्रश्न का सम्बन्ध जहाँ हमारे राजनीतिक और सामाजिक जीवन की बढ़ती हुई समस्याओं से है वहाँ पिछले युग की प्रमुख साहित्यिक प्रवृति—पलायन के विरुद्ध प्रतिक्रिया से भी कम नहीं है। एक ओर यदि हमारे साहित्य मे वर्तमान संघर्ष से घबराकर कल्पना-लोक अथवा स्वर्ण-अतीत मे शरण की खोज हो रही थी, तो दूसरी ओर कतिपय लेखकों के मन मे यह भावना भी दृढ़ होने लग गयी थी कि आज का जीवन न तो सुधार-युग का स्थूल आदर्शवाद चाहता है और न कल्पना-लोक में पलायन से ही काम चल सकता है। भावुकता जीवन की विषमताओं को भुलाने में सहायक हो सकती है, पर भुलावा कब तक चलेगा, अब तो आवश्यकता है विषमताओं के मूल-कारणों की छानबीन करने, और परिस्थिति से सामञ्जस्य स्थापित करते हुए उनके सुलझाने की। आज यही भावना हमारे सामने अधिक

प्रकट और सशक्त रूप में आई है। हमारे वैयक्तिक, सामाजिक एंव राजनीतिक जीवन में ग्रन्थियाँ पड़ी हुई हैं—जिनको खोलना आज हमारा नित्य कर्म है। अतः यह उचित है कि हमारा आज का साहित्य इन्हीं ग्रन्थियों को सुलझाने में अधिक व्यस्त रहे—इस प्रकार हमारा दृष्टिकोण बहुत कुछ बौद्धिक एंव आलोचनात्मक होगया है और इस बढ़ती हुई बौद्धिकता और समस्या-नाटकों की लोक-प्रियता का घनिष्ट सम्बन्ध है। समस्या के दो रूप सामने आते हैं—(१) व्यक्ति की समस्या, (२) सामाजिक राजनीतिक समस्या।

(अ) व्यक्ति की समस्या : सैक्स

—लक्ष्मीनारायण मिश्र

सैक्स आज विश्व के व्यक्ति की प्रधान समस्या है—विश्व का साहित्य अधिकांश उसी से अभिभूत है; फ्रॉयड ने तो जीवन के समस्त व्यापारों का मूल-केंद्र काम-वासना को ही माना है। फलतः हमें आज हिन्दी-साहित्य का एक वृहद् भाग सैक्स से ही आच्छादित मिलेगा।

सैक्स समस्या का सीधा सम्बन्ध है विवाह की संस्था से। मूलतः सैक्स व्यक्तिगत समझौते का ही प्रश्न है, परन्तु इससे जीवन में उच्छृंखलता फैलती, इसलिए समाज ने विवाह-प्रथा के द्वारा उसे मर्यादा-बद्ध कर दिया, और वह व्यक्तिगत समझौता न रह कर एक सामाजिक संस्था बन गई। व्यक्ति की समाज से टक्कर जिस प्रकार अनेक समस्याओं को उत्पन्न करती है, इसी प्रकार सैक्स समस्या का जन्म भी व्यक्ति की प्रवृत्ति और विवाह की संस्था के संघर्ष से ही होता है। भारतवर्ष में विशेषकर हिन्दू-समाज में, विवाह-संस्था आवश्यकता से अधिक रूढ़िबद्ध हो गई, इधर हमारे नीति-विधान में भी सैक्स को अप्राकृतिक महत्व दिया जाने लगा जिसके परिणाम-स्वरूप व्यक्तित्व पीड़ित

होकर स्वतन्त्रता के लिए छटपटाने लगा। विदेशी सभ्यता के प्रभाव ने उसे उत्साहित किया, और यह स्वतन्ता उनको प्राप्त भी हुई। स्त्री-पुरुष का सामाजिक सहयोग बढ़ने लगा—परन्तु इस सहयोग में वाञ्छित स्वतन्त्रता नहीं आ सकी, इसके साथ एक अप्राकृतिक दमन की भावना लगी रही—स्त्री-पुरुष खुल कर न मिल सके, उनके संस्कारों ने अभी दोनों के बीच एक दूरी बनाये रखी, जिससे यह समस्या और भी तीव्र हो गई। उत्तेजना के साधन तो उपस्थित हो गए, परन्तु परितृप्ति के साधन अभी दुर्लभ ही रहे। अतः पुराने नैतिक संस्कारों का बोझ लेकर जब आज के युवक युवती स्वतन्त्र-जीवन की ओर बढ़ने लगे, तो उन्होंने सैक्स-सम्बन्धी अनेक जटिलताएँ उपस्थित कर दीं। इसके साथ एक और विषमता सामने आई—वह थी अर्ध-आधुनिक नारी और अभिमानी पुरुष के बीच जिसके कारण विवाह का प्रश्न अत्यन्त जटिल बन गया। कुछ समय से हमारी सैक्स समस्या के मूल में ऐसी ही सामाजिक विषमताएँ काम कर रही हैं।

हिन्दी का नाटककार इससे जूझा है—और उसने उनका समाधान करने का प्रयत्न भी किया है। उसका समाधान ऊपर से बौद्धिक लगता है—कम से कम बुद्धि की दुहाई उसमें अवश्य दी है। परन्तु वास्तव में इसका आधार बौद्धिक अथवा आर्थिक न होकर आध्यात्मिक है—युग-धर्म गाँधीवाद का प्रभाव इसके लिए उत्तरदायी। है और चूंकि इन नाटकों में सैक्स की विषमताओं की आध्यात्मिक व्याख्या की गई है, इसलिए सर्वत्र विवेक अथवा सामान्यता (Normality) आपको उसमें न मिलेगी, कारण यह है कि गांधीवाद स्थूल की तह मे छिपे हुए सत्य का अन्वेषण करता है—अतः सामान्य की चारदीवारी उसे प्रायः तोड़नी ही पड़ती है। कम से कम देखने वालों को ऐसा ही लगता है। इन

नाटकों के समाधान और हरिजन में प्रकाशित गाँधीजी के सैक्स सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर की तुलना करने पर मेरे कथन की सत्यता और व्यक्त हो जाएगी।

यहां एक बात और स्पष्ट कर देना आवश्यक है—वह यह कि इन नाटकों की समस्या का रूप और समाधान समय से कुछ आगे है। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने जो समस्याएं हमारे सम्मुख रखी हैं, वे क्या भारतीय जीवन की व्यावहारिक समस्याएँ हैं—या केवल बौद्धिक ही ? यह प्रश्न उठ सकता है। बङ्गाल में यह शङ्का शरत की समस्याओं पर उठी थी इसका उत्तर यही है कि ये समस्याएं साधारण जन-जीवन की समस्याएं नहीं हैं—वे विशेष व्यक्तियों की समस्याएं हैं जिनके जीवन में बुद्धि का व्यापार साधारण जीवन की अपेक्षा कहीं अधिक होता है। अतः इन्हें समय से आगे—अथवा विशेष व्यक्तियों की समस्याएँ तो मानना ठीक है—परन्तु केवल काल्पनिक अथवा बौद्धिक कह कर इनकी मौलिकता पर आक्षेप करना अनुचित है।

लक्ष्मीनरायण मिश्र

इन नाटककारों में लक्ष्मीनारायण मिश्र अग्रगण्य हैं। उन्होंने पाँच छः समस्या नाटक लिखे हैं—सन्यासी राक्षस का मन्दिर, मुक्ति का रहस्य, राजयोग, आधीरात और सिन्दूर की होली।

पहले मैं मिश्रजी को रहस्य-भावना के कवि के रूप में जानता था। उनके अंतर्जगत में हमने उनके ही मुँह से—

'जीवन सागर के उस तट पर जहां न रेखा मग की।'

का संकेत-वाक्य सुना था और अब इधर 'मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ—' जैसे गर्म वक्तव्य भी पढ़े हैं। इनमें से कौन सी बात को सच मानें ? वास्तव में दोनों ही सच हैं—एक उनकी प्रकृति की वाणी है दूसरी उनके मस्तिष्क की; और सचमुच आज भी मिश्रजी के

स्वभाव और मस्तिष्क समझौता करके एक सार नहीं हो पाए। आज उनके चेतन में बुद्धिवाद और अंतर्चेतन में वही रहस्य-भावना है। उनका बुद्धिवाद इसी कारण शुद्ध तर्क पर अवलम्बित नहीं है। उसके भीतर चाहे मिश्रजी स्वयं न भी मानें, भावुकता की एक धारा बह रही है। एक जगह उन्होंने आध्यात्मिक बुद्धिवाद की बात कही है—मैं समझता हूँ अगर आध्यात्मिक को अधिक आध्यात्मिक न बनाया जाए तो यह एक शब्द हमें उनकी फिलासफी समझने में काफी मदद देगा। इन्होंने जीवन की आधुनिक समस्याओं—विशेष कर सैक्स के आंतरिक सत्य को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है और जहाँ ये सफल हुए हैं वहाँ अपनी भावुकता के कारण, और जहाँ असफल हुए हैं वहाँ अपनी विचारधारा की वजह से। मिश्रजी की विचार-शैली जैनेन्द्रजी से मिलती-जुलती है—दोनों के मानसिक (आध्यात्मिक अन्तर्तत्वों में एक समानता है। अन्तर इतना है कि मिश्रजी की आत्मा जहाँ अभी संशय और सन्देह पर विजय नहीं पा सकी-वहाँ जैनेन्द्रजी ने आग्रहपूर्वक आस्था को पकड़ लिया है—साथ ही जैनेन्द्रजी का बुद्धि तत्व अधिक प्रखर और रहस्य-भावना अपेक्षाकृत कम गहरी भी है। इसी कारण मिश्रजी में जैनेन्द्र की आधुनिक प्रवृत्तियों का प्रभाव कुछ अधिक पड़ा है—वहाँ का बुद्धिवाद, चिरन्तन नारीत्व की समस्या, प्रकृति की ओर प्रतिवर्तन का अनुरोध, जीवन के भौतिक सत्यों की निर्भ्रान्त स्वीकृति आदि संकुल प्रवृत्तियाँ उनके मन में काम कर रही हैं; इधर भारत की अपनी समस्याएँ—यहाँ की आध्यात्मिकता, का भी उस पर दबाव है। योरोप के इब्सन, शॉ, रोम्यां रोला, लॉरेन्स, फ्रायड, वर्जीनियाँ वुल्फ और भारत के उपनिषद् गांधी, शरत् जैसे एक मस्तिष्क में कुछ बेतरतीबी से भर

दिये गये हैं। आप उनके प्राक्कथन पढ़िये—कुछ विचित्र उलझन में पड़ जाएँगे। ऐसा मालूम होता है कि लेखक एक विचित्र मानसिक परिवर्तन में होकर गुजर रहा है और अभी सुस्थिर नहीं हो पाया। कहीं व्यक्ति की स्वतंत्रता की सिफारिश है, कहीं व्यक्ति को विश्व में लय कर देने की। अनेक स्थान पर तो वे जैसे अपने बुद्धिवाद का ही तिरस्कार कर उठते हैं।

जैसा मैं प्रवृत्तियों के विवेचन में कह आया हूँ, इस वर्ग के अधिकांश नाटक सैक्स से उलझे हुयेहैं। मिश्रजी के सभी नाटकों की मूल-समस्या यही है। इस समस्या के समाधान के लिये वे काफी गहरे उतर गये हैं। उनके 'सन्यासी', 'राक्षस का मन्दिर' 'मुक्ति का रहस्य','सिन्दूर की होली' में चिरन्तन नारीत्व (उन्हीं का शब्द है) का व्याख्यान है। लेखक ने बुद्धि की सहायता से इस उलझी समस्या का समाधान करने का प्रयत्न किया है— "वे पैदा हुई है बुद्धि से और उनका उत्तर भी बुद्धि से ही मिलेगा।" और मैं समझता हूँ 'मुक्ति का रहस्य' में यह समाधान जितनी सफाई के साथ हुआ है—उतना अन्य नाटकों में नहीं। आत्मा और शरीर, अध्यात्म-जगत और समाज, प्रेम और विवाह, दोनों में समझौता करके बुद्धिमान इस प्रकार की उलझनो को हल कर सकताहै। "मैं तुम्हें अपना दूल्हा तो नहीं बना सकती, लेकिन प्रेमी बना लूँगी।" हृदय द्वन्द्व पैदा करता है, बुद्धि उसे सुलझाती है,

इस मूल समस्या के साथ और बहुत-सी स्थूल समस्याऐं लगी हुई हैं—नाटककार की निश्चित धारणा है कि इस युग में साहित्य राजनीति से अलग नहीं किया जा सकता। अतः पिछले युग की अनेक समस्याऐं—जैसे एशियाई संघ, मातृ-मन्दिर (वेश्या-सुधार), इलेक्शन, खद्दर, सुधारवाद का दम्भ आदि—इन नाटको में मिलेंगी। जीवन की सूक्ष्म समस्या के साथ ये मोटी समस्यायें

बड़े अनमिल ढङ्ग से गुथी हुई हैं। रेशम के धागे में ये मोटे-मोटे खद्दर के धागे गुँथ कर प्रभाव-ऐक्य में व्याघात उत्पन्न करते हैं और नाटक की यूनिटी भ्रष्ट हो जाती है (सिन्दूर की होली इसका अपवाद है)। समस्याओं के धरातल का यह वैषम्य मिश्रजी के नाटकों की सबसे बड़ी त्रुटि है।

इन नाटकों में ट्रेजेडी का ढाँचा बहुत कुछ एक-सा है। 'सन्यासी' और 'राक्षस का मन्दिर' दोनों का अन्त एक-सा ही होता है। 'मुक्ति का रहस्य' 'आधी रात' 'सिन्दूर की होली' का अन्त भी उनसे अधिक भिन्न नहीं मालूम पड़ता। पात्रों में तो यह समानता और भी व्यक्त है। सभी मे एक पात्र कवि है—जो आदर्श और प्रत्यक्ष में समझौता न कर सकने के कारण—या यों कहें कि बुद्धि का सम्यक् उपयोग न करने की वजह से जीवन में विफल होता है—परन्तु बाद में उसकी विफलता ही शक्ति बनकर उसे ऊपर उठा देती है। सन्यासी का विश्वकान्त, राक्षस का मन्दिर का रघुनाथ कितने समान हैं। मनोजशंकर (सिन्दूर की होली) इसी वंश का है—परन्तु औरों से अधिक स्वस्थ और प्रकृतिस्थ। स्त्री पात्रों में एक पात्र जिसे समाज के शब्दों में पतिता कह सकते हैं—अनिवार्य रूप से यहाँ मिलेगा। किरणमयी, अशगरी, आशादेवी, मायावती असफल नारी जीवन की व्याख्या करती हैं। ये सभी स्त्रियाँ अन्त में विवाह और प्रेम में समझौता कर अपनी समस्या हल करती हैं। लौकिक अर्थ में गिर कर भी ये अपनी आत्मा का संस्कार अन्त में कर लेती हैं; सिर्फ किरणमयी नहीं कर पायी, इसीलिये उसे मरना पड़ा। उधर ललिता और चन्द्रकला कितनी समान हैं। चिरन्तन नारीत्व की उनकी उद्‌बुद्ध भावना बिल्कुल एक सी है। आदर्शवादी प्रेमियों से तिरस्कृत उनका नारीत्व जागृत हो उठता है, और वे अपने हृदय को आत्मा और बुद्धि से संयत कर

उनको (प्रेमियों को) बुरी तरह पराजित करती हैं। इसके अतिरिक्त इन नाटकों में पिछले युग का सुधारक किसी न किसी रूप में हमारे सामने आता है और लेखक एक विशेष मनोयोग के साथ उसके बाहरी जीवन का पर्दा उठाकर उसके अन्तर में छिपी कमज़ोरी पर प्रकाश डालता है—मुर्लीधर शर्माजी, मुनीश्वर, मुरारीलाल और किसी अंश में राघवशरण भी। अपने प्रयोग के लिए नाटककार को शायद सबसे उपयुक्त शिकार पिछले युग का सुधारक ही मिला है।

टेकनीक में मिश्रजी अधिक सफल नहीं हुए। उनके नाटकों में—खास कर सन्यासी में—दृश्य इतनी जल्दी बदलता है—उसमें इतने प्रवेश और प्रस्थान हैं कि एक खासी गड़बड़ सी मची रहती है। उनके आधीरात में अति-प्राकृतिक तत्व का समावेश किया गया है। एक साथ मायावी और प्रकाश की बातचीत, उधर कुछ दूर पर राधाचरण और प्रेत का सम्वाद—रङ्ग-प्रभाव की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर प्रयोग है, परन्तु रङ्गमञ्च पर उसका प्रदर्शन कैसे सम्भव हो सकता है ?

मिश्रजी ने मनो-विश्लेषण की शैली सफलता से अपनाई है—अतः कथोपकथन प्रायः टूटे वाक्यों में चलता है। भाषा से कवित्व का यथासम्भव बहिष्कार किया गया है। उसमें तीखापन अवश्य मिलता है—परन्तु वह सत्य का तीखापन है, भाषा का इतना नहीं। मिश्रजी के प्रान्तीय प्रयोग और लिङ्ग की त्रुटियाँ भी अक्षम्य हैं। वार्तालाप को सौ फ़ीसदी स्वाभाविक बनाने के लिए—अङ्गरेजी के सम्पूर्ण वाक्य ज्यों के त्यों उठा कर रख दिए हैं—एकाध स्थान पर तो बात-चीत ही खासी कठिन अङ्गरेजी में होती है। ऐसे मौके पर हिन्दी का साधारण पाठक बेचारा पात्रों का मुँह ताकने के अतिरिक्त और क्या कर सकता है।

अन्त में मिश्रजी की त्रुटियाँ जितनी वास्तविक—उतनी ही

उनकी प्रतिभा और शक्ति भी। मैं जानता हूँ उनके नाटकों मे समस्याओं का बेमेल जमघट है—मैं जानता हूँ उनके नाटकों में दृश्यों की उलझन है और इन दोषो के कारण, इन नाटकों मे यूनिटी साफ नहीं है—परन्तु फिर भी प्रतिभा का स्पर्श उनमें सबसे अधिक है। उनकी मूल समस्या काफी गहरी होती है, और उनकी पकड़ भी उतनी ही मजबूत। इसके अतिरिक्त उनका सब से बड़ा गौरव यह है कि आधुनिक नाटककारों में सामान्य से परे (Beyond the normal) केवल उन्हीं की पहुँच है। आज के प्रायः अन्य नाटककार जहाँ जिन्दगी की चहार दीवारी के चारों ओर घूमते हैं, वहाँ मिश्रजी उसे कहीं न कहीं तोड़ कर [क्योंकि उसके भीतर घुसने का कोई स्वाभाविक रास्ता नहीं है] उसके अन्दर प्रवेश करते हैं।

पृथ्वीनाथ शर्माः—

पृथ्वीनाथ शर्मा के दो नाटक दुविधा और अपराधी भी इसी परिधि में आते हैं। पृथ्वीनाथजी विदेशी भावुकता से प्रभावित नवयुवक हैं—उनकी रुचि मे परिष्कार है। आज के शिक्षित युवक जीवन का सोशल रोमांस उनकी रचनाओं का मूलआधार है। उसमें यौवन का आदर्शवाद और रङ्गीनी है। दुविधा की समस्या आज की उच्च-शिक्षिता युवती की दुविधा है। शिक्षा समाप्त करने के उपरान्त आधुनिक युवती के सामने एक प्रश्न आता है—विवाह का। वह स्वतन्त्र जीवन की रङ्गीनी को थोड़ा बहुत देख चुकी है, दूसरी ओर वैवाहिक-जीवन के बन्धन-अभिशाप के विषय में भी काफी सुन चुकी है। इन दोनों के बीच मे उसका मन भटक जाता है। माता-पिता के निश्चय पर उसे विश्वास नहीं—स्वयं निश्चित करने की शक्ति नहीं—आखिर जब परिस्थिति से दब कर निश्चय करती है तो गलती कर जाती

उनकी प्रतिभा और शक्ति भी। मैं जानता हूँ उनके नाटकों में समस्याओं का बेमेल जमघट है—मैं जानता हूँ उनके नाटकों मे दृश्यों की उलझन है और इन दोषों के कारण, इन नाटको मे यूनिटी साफ नहीं है—परन्तु फिर भी प्रतिभा का स्पर्श उनमें सबसे अधिक है। उनकी मूल समस्या काफी गहरी होती है, और उनकी पकड़ भी उतनी ही मज़बूत। इसके अतिरिक्त उनका सब से बड़ा गौरव यह है कि आधुनिक नाटककारों में सामान्य से परे (Beyond the normal) केवल उन्हीं की पहुँच है। आज के प्राय: अन्य नाटककार जहाँ जिन्दगी की चहार दीवारी के चारों ओर घूमते हैं, वहाँ मिश्रजी उसे कहीं न कहीं तोड़ कर [क्योंकि उसके भीतर घुसने का कोई स्वाभाविक रास्ता नहीं है] उसके अन्दर प्रवेश करते हैं।

पृथ्वीनाथ शर्मा:—

पृथ्वीनाथ शर्मा के दो नाटक दुविधा और अपराधी भी इसी परिधि में आते हैं। पृथ्वीनाथजी विदेशी भावुकता से प्रभावित नवयुवक हैं—उनकी रुचि मे परिष्कार है। आज के शिक्षित युवक जीवन का सोशल रोमांस उनकी रचनाओं का मूलआधार है। उसमें यौवन का आदर्शवाद और रङ्गीनी है। दुविधा की समस्या आज की उच्च-शिक्षिता युवती की दुविधा है। शिक्षा समाप्त करने के उपरान्त आधुनिक युवती के सामने एक प्रश्न आता है—विवाह का। वह स्वतन्त्र जीवन की रङ्गीनी को थोड़ा बहुत देख चुकी है, दूसरी ओर वैवाहिक-जीवन के बन्धन-अभिशाप के विषय में भी काफी सुन चुकी है। इन दोनों के बीच मे उसका मन भटक जाता है। माता-पिता के निश्चय पर उसे विश्वास नहीं—स्वयं निश्चित करने की शक्ति नहीं—आखिर जब परिस्थिति से दब कर निश्चय करती है तो ग़लती कर जाती

है। दुविधा में सुधा की यही कहानी है और आधुनिक शिक्षित युवती की भी ठीक यही समस्या है। अपराधी के मूल में सामाजिक आदर्शवाद है--अपराध की समस्या है। जिसे समाज और न्याय अपराधी कहता है वह प्रकृति एवं स्वभाव से अपराधी नहीं है— वह परिस्थिति के कारण अपराधी है। इसी भावना के वश होकर अशोककुमार मातादीन चोर को पकड़ कर भी छोड़ देता है और स्वयं उसके अपराध का फल भोगने को प्रस्तुत हो जाता है। पर अन्त मे अपराधी मातादीन का मानव-स्वभाव विरोधी परिस्थिति से टक्कर खाकर एक साथ जागृत हो जाता है और वह आकर अपना अपराध स्वीकार कर लेता है। इस समस्या को शृङ्गार मे लपेट कर लेखक ने हमारे सम्मुख उपस्थित किया है। इन दोनों पुरुष-पात्रो की प्रेरक शक्ति है नारी। नाटक की तीन नारियाँ लीला, रेणु और आया नारीत्व के तीन चित्र हैं—लीला सरल अबला है, मुग्धा दूसरे पर निर्भर रहने वाली; रेणु मे स्त्री का आत्म-संयम और बलिदान है—आया में उसका आत्माभिमान।

पृथ्वीनाथ जी कहानीकार हैं। विदेश के कहानी—शिल्प का उनकी लेखनी पर स्पष्ट प्रभाव है—अतः टेकनीक उनकी विशेषता है; पर यह टेकनीक कहानी को अधिक है नाटक की कम। अपराधी में उन्होंने आया, अनिल, प्रमीला और अशोक तथा लीला रेणु की कथाओं को अत्यन्त मनोहर ढङ्ग से गुम्फित किया है। संगुम्फन की इतनी सफाई और किसी भी नाटक में नहीं मिलेगी। अनिल और प्रमीला का उपयोग यद्यपि टेकनीक का रोचक प्रयोग है, परन्तु इन दोनो बच्चों का कोमल प्रभाव अशोक के चरित्र पर और नाटक के टोन पर भी अनिवार्य रूप से पड़ता है।

कमला—

पं० उदयशङ्कर भट्ट का कमला नाटक भी समस्या नाटकों की

श्रेणी में आता है। भट्टजी का क्षेत्र प्राय वैभव का अतीत है—इरन्तु उनके मन में आज की समस्याएँ वहाँ भी साथ ही गई हैं। मत्स्यगंधा, अम्बा, विश्वामित्र आदि नाटक 'चिरन्तन नारीत्व' के ही व्याख्यान हैं—कमला में यह समस्या अप्रस्तुत का आवरण हटा कर हमारे सामने आई है।—कमला का प्रधान-पात्र देवनारायण सामन्तीय संस्कृति का दृढ़ प्रतीक है—वह वृद्ध है, धुनी है, शक्की है और चिड़चिड़ा है। नारी को वह अन्य उपकरणों की भाँति उपभोग की वस्तु समझता है—'जीवन के उपकरण सदृश नारी भी करली अधिकृति।' नारी का कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व भी है, इसकी कल्पना भी वह नहीं कर सकता। इसी धारणा से वह एक सुशिक्षित लड़की कमला से वृद्धावस्था में विवाह कर लेता है। विगत युग के पुरुषत्व और इस युग की नारी भावना में संघर्ष होता है—और सदा की भाँति यहाँ भी नारी ही अपनी बलि देकर पुरुष को जीवन का पाठ पढ़ाती है। उमा का बलिदान भी इसी वेदी पर होता है और वे दोनों मिलकर ट्रेजेडी का सृजन करते हैं। लेकिन यह ट्रेजेडी अधिक सफल नहीं हो सकी। एक ओर तो कमला मे वाञ्छित व्यक्तित्व का अभाव है, उधर उमा का अन्त बड़ा आकस्मिक है—इसलिए कुछ मैलोड्रामा का सा वातावरण उपस्थित हो जाता है लेखक नाटकीय परिस्थित को दृढ़ता से ग्रहण नहीं कर सका। फिर भी नाटक में कवित्व है, उसकी भाषा में रस है और व्यक्ति-चित्रों की रेखाएँ साफ हैं। यह नाटक अंशों में जितना सशक्त है समग्र रूप में उतना सफल नहीं है।

छाया—

यह हरिकृष्ण प्रेमी का नवीनतम प्रयास है। छाया का प्रधान पात्र है प्रकाश। प्रकाश युग का कवि है—युग की वाणी उसके

स्वरों में साकार हो गई है। परन्तु युग के लिये प्रकाश वितरण करने वाले इस कवि का अपना जीवन अन्धकार से आच्छन्न है। 'संसार को प्रकाश के गीत चाहिये, प्रकाश नहीं चाहिये। लोग कहते हैं तुम्हारी कविता, साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति है, किन्तु कोई यह नहीं देखता कि विश्व-साहित्य को अमूल्य सम्पत्ति देने वाला कवि, अपनी पत्नी की इज्जत ढकने के लिये एक धोती खरीदने में भी समर्थ नहीं, अपनी बच्ची को दूध पिलाने कोभी दाम नहींपाता उस दिन जब साहित्य-सभा के मंत्री मुझे मान-पत्र दे रहे थे सभा के बाहर कचहरी का प्यादा समन लिये खड़ा था। इस तरह कब तक अपना लोहू पीकर मैं साहित्य का भंडार भर सकूँगा।" आज साहित्यिक और प्रकाशक का संबन्ध भी मजदूर और पूँजीपति का संबंध बनगया है। सभी पूँजीपतियों की भाँति प्रकाशक भी यही चाहते हैंकिसाहित्यकार "उनका आश्रित बना रहे। इतनी रोटियाँ उसे वे देते रहें जिनसे उसकी सांस चलती रहे, लेकिन खून न बढ़े ताकि वे संसार से कह सकें कि उन्होंने अमुक महान कवि और नाटककार को जीवित रखने का उपकार कियाहै।" आज भारतवर्ष के साहित्यकार के जीवन की यही विषमता है। छाया में इसका तीखे शब्दों में चित्रण किया गया है। परन्तु समस्या-नाटकों के कर्त्तव्य की इतिश्री समस्या उठा देने भर से ही नहीं हो जाती—उसका समाधान भी चाहिए। हमारे साहित्यिक की समस्या का, बुद्धि दो रूपों से समाधान प्रस्तुत करती है (१) साहित्यिक को भाव और स्वप्न के साथ बुद्धि का उपयोग भी करना जीवन के लिये अनिवार्य है—जीवन-यापन के लिये साधारणतः जितनी व्यवसाय-वृत्ति (जिसका दूसरा नाम है 'कामनसैन्स') की आवश्यकता है वह उसके पास होनी चाहिये। उसके साहित्य का दुनियाँ में क्या दाम है इसकी परख उसे होनी चाहिये और उसी के अनुसार अपने व्यवहार को भी

ढालना चाहिये। (२) समाज की मैशीनरी को ही ओवरहॉल करने का प्रयत्न कियाजाए जिसमें परिश्रम और शक्ति का उचित मान हो। साहित्यकार जो अपने प्राणों के रक्तसे साहित्य-सृष्टि करता है आय के मुख्यांश का अधिकारीहो और प्रकाशक जो उसे जनता तक पहुँचाने का व्यापार करता है गौणांश का। —इनमें पहला समाधान परिस्थितियों के देखते हुए अधिक सुकर और साधारण है दूसरा अत्यंत कठिन और मौलिक। छाया में प्रकाश की पत्नी पहले उपाय का ही प्रयोग करती है। और उसके द्वारा प्रकाश को विषमतम परिस्थिति से मुक्त कर देती है। परन्तु सचमुच यह नाटककार का समाधान नहीं है-वह तो शायद कथावस्तु के आग्रह से-अथवा छाया का गृहिणी-चित्र पूर्ण करने के लिये प्रसङ्गवश हो गया है। यदि ऐसा होता तो यह नाटक भाव-सृष्टि नहोकर भावुकता पर एक कठोर व्यंग्य होता। लेकिन बात इसके बिल्कुल विपरीत है। छाया में मूल-समस्या के प्रति एक काव्यगत भावपूर्ण प्रतिक्रिया मिलती है-उसमे रुपये पर क्रोध उंडेल कर भावुकता के पक्षमें हमारी भावनाओं को जागृत किया है 'रुपये को अपने सर न चढ़ने दो मनुष्यो! रुपये को मनुष्य का सुख न छीनने दो मनुष्यो! रुपये को मनुष्य का अपमान न करने दो मनुष्यो!'-और यह कोई समाधान नहीं है-बुद्धि इस पर हँस पड़ेगी।

किन्तु मैं आपसे प्रार्थना करूँगा कि इस नाटक को आप यों न परखिये। यह सब इसलिये जरूरी समझा गया है कि प्रेमी जी और आजके अनेक भावुक साहित्यकार युग-प्रवृत्ति के नाम पर कुछ अधकच्ची बातों के भँवर में फँसकर वास्तविकता को न समझते हुये अपने प्रति अन्याय कर रहे हैं। छाया भाव-सृष्टि है, उसको रस की दृष्टि से देखिये :—

पुरुष-चित्र :—

प्रकाश :—केवल भावुकता। जीवन को हृदय की आँखों से देखता है।

रजनीकान्त :—एक बार हृदय से धोका खाकर भावुकता को बुद्धि की चोटों से हृदय के कब्रिस्तान में दफना देता है। जीवन उसके लिए बुद्धि-व्यापार है—वर्तमान की वास्तविकता उसके लिए सब कुछ है और वह उसे सदैव अपने अनुकूल बना लेता है।

शंकरदेव और भवानीप्रसाद :—हृदय और बुद्धि दोनों में चीण। जीवन को स्पष्ट नहीं देख सकते, अतएव अपने आपको और दूसरों को धोखा देते हैं।

नारी-चित्र :—

छाया :—नारी का गृहिणी रूप। विवेक और भावुकता का सहज समन्वय। पुरुष के लिए एक ओर श्रद्धा और दूसरी ओर वात्सल्य-दया लिए हुए।

ज्योत्स्ना :—नारी का पत्नी रूप। पुरुष के लिए सर्वस्व-समर्पण करने वाली।

माया :—नारी का कामिनी रूप; पुरुषत्व के लिये अनन्त तृष्णा लिए हुए।

ये सभी रंग-बिरंगे चित्र प्रकाश के चित्र पर अपनी रंगीन किरणों का फ़ोकस डाल रहे है। अर्थात् भावुकता पर क्रिया-प्रतिक्रिया कर रहे हैं। प्रकाश (भावुकता) उनसे स्निग्धता विवेक और शक्ति ग्रहण करता है। भावुकता का सबसे बड़ा सम्बल है नारी का आकर्षण और उसका कोमल और स्निग्ध प्रभाव प्रकाश पर छाया, ज्योत्स्ना, और माया के द्वारा पड़ता है। शक्ति उसे रजनीकान्त की बौद्धिक दृढ़ता से प्राप्त होती है और

विवेक शंकरदेव और भवानीप्रसाद की वञ्चना से। उधर प्रकाश के स्पर्श से इन सभी का व्यक्तित्व उज्ज्वल हो जाता है। लेखक ने भावुकता को ही मानवता की निधि माना है—उसी के पुण्य स्पर्श से मानव मन काञ्चन बन जाता है।

इसी तथ्य को लेखक ने आज की सामाजिक परिस्थितियों में लपेट कर—जिनमें अधिकांश उसकी अपनी व्यक्तिगत परिस्थितियाँ हैं—हमारे सम्मुख रखा है। व्यक्तिगत अनुभूति के कारण उनमें तीव्रता आजाना स्वाभाविक ही है—परन्तु नाटक के अन्त में और कहीं बीच बीच में भी जो आदर्शवादिता का मोटा आवरण चढ़ा दिया गया है उससे रसानुभूति में व्याघात उत्पन्न हो जाता है। भावुकता का आदर्शीकरण करना उसका अपमान करना है और इस दोष के अपराधी प्रेमीजी अपनी बौद्धिक दुर्बलता के कारण सदैव से रहे हैं।

नाटक का टेकनीक असफल है। दृश्य बहुत छोटे हैं—और पात्रों का आना जाना सर्वत्र और सदैव बड़े अस्वाभाविक ढङ्ग से लगा रहता है। रङ्गमञ्च पर लोग इस आवागमन को देखकर खीझ उठेंगे।

परन्तु यह सब होते हुए भी छाया प्रेमीजी की एकान्त अपनी चीज़ है—वह भाव-सृष्टि है और हमारे हृदय को स्पर्श करती है। यही उसका सौन्दर्य और यही उसकी सार्थकता है।

(आ) सामाजिक राजनीतिक समस्या

—सेठ गोविन्ददास

इन नाटकों का सीधा सम्बन्ध है पिछले युग की राष्ट्रीय जागृति से—अतएव गांधीजी और कांग्रेस की नीति से। इनमें गांधीवाद के व्यवहार-पक्ष को ग्रहण किया है—उसके सूक्ष्म दर्शन-तत्व को नहीं—अतएव जीवन के मूल प्रश्नों का विश्लेषण इनमें सम्भव नहीं है। इन नाटकों की समस्या तो हमारी राजनीति और समाजनीति की ऊपरी सतह को ही छूती है। इनमें न तो संवेदना ही इतनी सूक्ष्म-कोमल है कि जीवन के स्थूल सत्यों से विमुख होकर रोमांस का आञ्चल पकड़ सके और न चिन्ता-धारा ही इतनी गहन है कि आध्यात्मिक जीवन की तरल समस्याओं को ग्रहण कर सके। इनका आधार तो व्यावहारिक आदर्शवाद है जो जीवन के नैतिक-विधान (moral order) की अपेक्षा करता है—यही कारण है कि नाटकों की परिधि सामान्य तक ही परिसीमित है। स्पिरिट में ये नाटक 'राष्ट्रीय नैतिक' नाटकों से बहुत भिन्न नहीं हैं।

सेठ गोविन्ददास

सेठ गोविन्ददास ने अनेक समस्या-नाटकों की रचना की है। इन नाटकों के पीछे सेठजी का व्यक्तित्व और सेठजी के व्यक्तित्व के पीछे विगत युग का अभिजात वर्ग है। सेठजी को अपने परम्परावादी धनिक परिवार से दो वस्तुएँ उत्तराधिकार में मिलीं—१ वैभव-विलास, २ परम्परा-प्रेम, जिसका मुख्य अङ्ग था भीरुता—अर्थात ईश्वर का भय (धर्म), राजा का भय (राज-भक्ति) और समाज का भय (रूढ़िवादिता)। एक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक का कथन है कि प्रत्येक पुत्र अपने पिता के प्रति विद्रोह करता है। इस सत्य का स्पष्ट कारण यह है कि मानव-मन वैचित्र्य और नवीनता चाहता है, किसी एक ही वस्तु की पुनरावृत्ति से थक जाता है, चाहे वह पुनरावृत्ति सुख और ऐश्वर्य की ही क्यों न हो। सेठजी के साथ भी यही हुआ—उनके मन ने अपने उत्तराधिकार के प्रति विद्रोह किया। अतिशय वैभव की प्रतिक्रिया सरल जीवन और सादगी में व्यक्त हुई, अतिशय विलास की प्रतिक्रिया नैतिकता मे, और रूढ़ि बन्धन की प्रतिक्रिया बौद्धिकता मे। इन तीनो तत्वो ने मिलकर उस व्यवहारिक आदर्शवाद का निर्माण किया जो सेठजी के जीवन का स्थिर एंव निश्चित दृष्टिकोण है। प्रत्येक व्यक्ति अपने दृष्टिकोण के लिए एक आदर्श चाहता है और सेठजी को यह आदर्श युग-पुरुष गांधी की नीति मे मिला। बस एक तो गांधी-नीति का चिंतापक्ष उस समय तक स्पष्ट नहीं हो पाया था इसलिए, दूसरे अपने स्वभाव-संयोग के कारण, उन्होंने उसके व्यवहार-पक्ष को ही आस्था-पूर्वक ग्रहण कर लिया।

इस प्रकार सेठजी जिन तीन तत्त्वों को लेकर नाटक-रचना की ओर बढ़े, वे थे १—व्यवहारिक आदर्शवाद, जो उनका दृष्टिकोण बन चुका था। २—संघर्ष, जो उन्हें अपने

माता-पिता और परिवार के विरुद्ध करना पड़ा था। ३—वैभव का वातावरण, जिससे वे भाग रहे थे। ये तीनों बातें सहज रूप में समस्या-नाटक के अनुकूल पड़ीं और यही माध्यम उन्होंने चुन लिया। व्यवहारिक आदर्शवाद समस्याओं को प्रस्तुत करने और सुलझाने में, संघर्ष नाट्य द्वन्द्व को उपस्थित करने में और वैभव का वातावरण दृश्य-योजना में सहायक हुआ।

(१) व्यावहारिक आदर्शवादः—सेठजी के समस्या-नाटक सामाजिक राजनीतिक स्तर के प्रश्नों की बौद्धिक व्याख्या करते हैं। उनकी व्याख्या का आधार, जैसा मैंने अभी कहा है, गांधी-नीतिः सत्य और सेवा के द्वारा ही जीवन की भौतिक विषमताओं का समाधान हो सकता है। आज हमारे देश में और अन्यत्र भी जो सामाजिक और राजनीतिक समस्याएँ हैं उनकी पूर्ति भौतिक साधनों से नहीं हो सकती, उसके लिए आध्यात्मिक अर्थ में आत्म-निषेध और भौतिक अर्थ में त्याग की अपेक्षा है। सार्वजनिक जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध रहने के कारण सेठ जी इस (सार्वजनिक) जीवन की समस्याओं को अच्छी तरह समझते हैं। एसेम्बली में उन्हें उनका विवेचन और समाधान करने का सक्रिय अवसर भी मिला है, इसलिए उनके नाटकों में हमें पिछले युग के सामाजिक और राजनीतिक जीवन की बुद्धि-पाक सुथरी आलोचना मिलती है। 'सेवापथ' की मूल समस्या वास्तव में सेवा-पथ ही है। उसमें तीन चरित्र हैं। १–दीनानाथ निम्न श्रेणी का व्यक्ति है, जो गांधीनीति का अनुयायी है और त्याग को सर्वश्रेष्ठ सेवापथ मानता है। २–शक्तिपाल मध्यम श्रेणी का प्राणी है। यह आज के बौद्धिक साम्यवाद का प्रतिनिधि है, और अपने सुख-भोग का त्याग न करते हुए भी, ईमानदारी से देश की सेवा करना चाहता है। ३–श्री निवास अभिजात वर्ग का प्रतिनिधि है। यह पूंजीवादी

और ऐश्वर्य की लालसा भोग-विलास, अपव्यय, ऋण-आदि।

शैली और टेकनीक—सेठजी की शैली व्याख्यात्मक है—व्यंग्यात्मक नहीं-इसका संबन्ध भी सीधा उनके स्वभाव और कर्म से है। उनका स्वभाव अत्यन्त सरल है-उसमें किसी प्रकार की ग्रंथियाँ या धार नहीं है। राजनीतिक जीवन को भी उन्होंने मुख्यतः आदर्श की प्रेरणा से सेवा के लिये ही ग्रहण किया है-वह उनके लिये एक नैतिक कर्म है। इसलिये उनकी शैली समझाने की, रास्ते पर लाने की शैली है, जिसमें एक निश्चित आदर्श के सहारे बातों को खोलने और समझने का प्रयत्न होता है, तीखे शब्दों या व्यंग्य की चोट से श्रोता को हत-प्रभ करने की चेष्टा नहीं। इसीलिये वह सर्वत्र सुलभ, सुथरी स्पष्ट और विश्वास करने वाली हो सकी है, तीखी तिलमिला देने वाली नहीं जो राजनीतिक क्षेत्र में अधिक सफल होती। भाषा संयत और परिष्कृत है-उसमें भद्र जनोचित पॉलिश है। परन्तु सिद्धान्त प्रतिपादन की वजह से कहीं-कहीं कथोपकथन भाषण की प्रतिस्पर्धा करने लगता है-तब भाषा में एकस्वरता आजाती है। फिर भी समय और वातावरण के अनुकूल उसमें चाञ्चल्य नहीं है ऐसा कहना 'स्पर्धा' के लेखक के साथ अन्याय होगा। उसके वार्त्तालाप में क्लब जीवन की चपलता और चमक है।

सेठजी ने स्वदेश विदेश के नाट्य शास्त्र का अच्छा मनन किया है इस कारण उनको टेकनीक के प्रयोग करने में खास दिलचस्पी है। प्रकाश में विदेश की प्रतीक शैली का एक प्रयोग उनका 'Bull in the China Shop' है। विकास सुन्दर स्वप्न नाटक है, जिसमें फोटो-प्ले का रमणीक दृश्य विधान है, नवरस नाट्य-रूपक है। एकांकी के क्षेत्र में उन्होंने उपक्रम और उपसंहार की उद्भावना की है-और हिन्दी में मोनोड्रामा लिखने का सर्व-प्रथम श्रेय उन्हीं को है। यह तो मानना ही पड़ेगा कि इन प्रयोगों

में कोई विशेष सूक्ष्मता या तरलता नहीं है, परन्तु उनकी स्वच्छता में सन्देह नहीं किया जासकता। एकांकी की टेकनीक पर रूप-रश्मि की भूमिका से अधिक सुथरा विवेचन अन्यत्र नहीं मिलेगा।

धीरे धीरे—

एक राजनीतिक व्यंग्य है। इसकी समस्या एकदम सामयिक राजनीति से सबंध रखती है। कांग्रेस मन्त्रि-मण्डल की नीति एवं कार्यप्रणाली इस नाटक का लक्ष्य है। विचित्र उलझी हुई परिस्थिति में पड़ी हुई कांग्रेस सरकार किस प्रकार सभी कार्यों को धीरे-धीरे करने का दम भरती रहती है—यहाँ तक कि उसका समय समाप्त हो जाताहै और वह कुछ भी नहीं कर पाती। सब धीरे-धीरे हो जायगा—यही सोचते समय निकल जाता है, परिस्थिति काबू में नहीं आती। वृन्दावनलालजी उदार दल के है—इसलिये कांग्रेस के प्रति उनके हृदयमे एक स्नॉबरी (मताभिमान) की भावना है। यह ठीक ही है कि नाटककार के दृष्टिकोण में सहानुभूति का स्पर्श नहीं है, परन्तु साथ ही कटुता भी कहीं नही आने पाई—और यही मानसिक सन्तुलन 'धीरे-धीरे' की प्रधान विशेषता है। नाटककार ने काफी हद तक नाटक से अपने व्यक्तित्व को असम्पृक्त रखाहै। इस नाटक के वातावरण मे अजब हुल्लड़ है। दृश्यों को सफाई से पेश करने की कोशिश नहीं है। शायद लेखक की दृष्टि कांगरेस के इसी (हुल्लड़ वाले) रूप पर ही टिकी है। और उसने जान बूझ कर ऐसे चित्र खींचे हैं। फिर भी यह दोष पाठक के मन में एक विरक्ति पैदा करता है। कुछ बातें अस्वाभाविक हैं :-हीरा का व्यक्तित्व विचित्र है। गाँव के जमीदार की यह अशिक्षित गृह-सेविका राजनीति में दूर-दूर तक हाथ बढ़ाती है। सगुनचन्द का व्यक्तित्व अति-रञ्जित हो गयाहै। और धारासभा के मॉनरेबुल मन्त्रीलोग तो जैसे अपनी पद मर्यादा को जानते हीनहीं। हमारे संस्कार का दोष होसकता

है, पर उसकी विशेषता स्वीकार करते हुये भी 'धीरे-धीरे' को पढ़कर हमारी मनस्तृप्ति नहीं होती।

स्वर्ग की झलक—

अश्क का 'स्वर्ग की झलक' एक सामाजिक व्यंग्य है जिसका आधार है आधुनिक स्त्री-शिक्षा। गत युग की अशिक्षिता नारी यदि सुरुचि-संस्कार से हीन थी—आजकल के नवयुवक के शब्दों मे दर्जिन या रसोइन पद की अधिकारिणी थी—तो आज की अंगरेजी शिक्षा-दीक्षा से अलंकृता स्त्री तितली की प्रतिस्पर्धा करती है। जीवन को सुखमय बनाने मे दोनों असफल है। इसीलिए लेखक की धारणा है—"जहां शिक्षा पाकर नारी स्वाभिमान, आत्म-विश्वास, व्यापक ज्ञान, तथा समाज-सेवा की भावनाएँ पाए, वहाँ उसे मानसिक संतुलन भी क़ायम रखना चाहिए। तभी समाज मे स्वस्थता क़ायम रह सकेगी। आज का शिक्षित नवयुवक गतयुग के दाम्पत्य जीवन को नरक समझता हुआ—बाह्य प्रसाधनों से जगमगाती हुई विदेशी शिक्षा-संस्कृति की प्रतिमा आधुनिक नारी की ओर आकृष्ट होता है और उसके साहचर्य्य में स्वर्ग बसाने के रंगीन सपने देखता है, परन्तु जीवन के अधिक निकट आकर उसे अनुभव होता है कि यह स्वर्ग उसके मन का ही रंगीन भ्रम है और कुछ नहीं। यही भ्रम-निवारण (Disillusionment) इस नाटक का सारतत्व है। रघुनन्दन इसी स्वर्ग की झलक को मिस्टर अशोक, प्रो० राजेन्द्र के घर और रात को कंसर्ट में देखकर अपनी भूल स्वीकार करता है और बी० ए० में फर्स्ट आने वाली कला निपुण उमा को छोड़ अर्धशिक्षिता रक्षा को ग्रहण करता है।

अश्क का क्षेत्र है आज कल के मध्यवर्ग का शिक्षित नवयुवक समाज और स्वभावतः वे पंजाबी जीवन के अधिक निकट हैं—उनकी समस्याएँ भी इस वर्ग की सामाजिक समस्याएँ ही

होती हैं। सेठ गोविन्ददास की तरह वे भी जीवन के गहन स्तरों में प्रवेश नहीं कर सकते, परन्तु ऊपरी धरातल की इन समस्याओं की उनकी पकड़ अचूक है और अन्वीक्षण काफ़ी तीक्ष्ण; इसी कारण उनके नाटकों में द्विधा नहीं है। हाँ कहीं कहीं जब वे सुधारक बनने का दम्भ करते हैं तो समस्या आवश्यकता से अधिक व्यक्त हो जाता है, साथ ही जीवन की गम्भीरता कम होने के कारण उनका चित्र भी प्रायः अतिरञ्जित हो जाता है और व्यंग्य स्थूल। 'स्वर्ग की झलक' में मिस्टर अशोक और प्रो० राजेन्द्र के चित्र मेरे गवाह हैं। दोनों को ही बच्चा खिलाने की ड्यूटी इस तरह अदा करनी पड़ती है जैसे उनका अपना व्यक्तित्व कुछ हो ही नहीं—यह मजाक बड़ा मोटा है"। नाटक की टेकनीक सुलझी और सैटिंग साफ़ है—शब्दों में थोड़ा पंजाबीपन है।

अंगूर की बेटी—

पं० गोविन्दवल्लभ पन्त ने भी एक ऐसा नाटक लिखा है 'अङ्गूर की बेटी'। इसका उद्देश्य मद्य-पान के दोष दिखाना है—अतएव यह स्वाभाविक ही है कि यहाँ हमें जीवन के गम्भीर प्रश्नों का उत्तर नहीं मिलेगा। फिर भी समस्या जैसी चीज है और उद्देश्य भी स्पष्ट ही है। चाहे वह समस्या कितनी ही आउट ऑव डेट और उद्देश्य कितना ही हलका हो। इस नाटक के वस्तु-विकास की रेखाएँ बहुत स्थूल हो गई हैं और एक स्थान पर तो स्टंट का नज़ारा सामने आ जाता है। आधुनिक समस्या नाटकों से पूर्व इङ्गलैंड में आस्कर वाइल्ड के समसामयिक मध्य-प्रतिभ लेखकों ने जिस प्रकार के सामाजिक प्रहसन (Comedy) लिखे थे, यह नाटक उसी श्रेणी में आता है और सचमुच 'समस्या नाटक' जैसे गम्भीर शीर्षक का भार वहन न कर सकेगा।

हिन्दी का नाट्य-रूपक

रूपक शब्द संस्कृत में दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। एक तो साधारण रूप से नाटक के अर्थ में, दूसरे रूपक अलंकार के अर्थ में, जिसमें उपमान का उपमेय पर अभेद आरोप होता है। पर इन दोनों के अतिरिक्त, रूपक का तीसरा प्रयोग आजकल एक विशिष्ट अर्थ में किया जाता है। उस अर्थ में जिसमें अङ्गरेजी का शब्द ऐलीगरी (allegory) आता है। इस रूप में भी रूपक का सम्बन्ध रूपक अलङ्कार से ही है। रूपक अलङ्कार की तरह ही इसका आधार भी साम्य ही है—अन्तर यह है कि अलङ्कार में यह साम्य क्षणिक और अस्थायी होता है, लेकिन 'रूपक' मे स्थायी और आरम्भ से अन्त तक रहने वाला। रूपकातिशयोक्ति को इन दोनों की मध्यवर्तिनी अवस्था समझिए। वहाँ यह अभेद साम्य वर्णन में गुम्फित रहता है, 'रूपक' मे समस्त कथा के वस्तुओं में। परिभाषा की उलझन में न पड़ कर मोटे रूप मे शायद हम कह सकते हैं कि 'रूपक' से तात्पर्य उस कथा से है जो किन्हीं सिद्धान्त विशेष का माध्यम बन कर हमारे सम्मुख आती है। रूपक के अमूर्त सिद्धान्तों में और मूर्त कथावस्तु में

समानान्तर चलने वाली एक साम्य-भावना होना अनिवार्य है। यह साम्य प्रायः अत्यन्त स्पष्ट और कथा का आवरण इतना झीना होता है कि सिद्धान्त ही स्वयं बोलते हुए सुनाई पड़ते हैं। रूपक के दो स्वरूप दृष्टि-गोचर होते हैं, एक में तो मनुष्य की अन्त र्वृत्तियाँ अथवा गुण-दोष सीधे-सादे मूर्त्त रूप धारण कर पात्ररूप में हमारे सम्मुख आते हैं, और दूसरे मे पात्र साधारण स्त्री-पुरुष होते हैं, लेकिन उनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं होता, वे भावनाओं के प्रतीक मात्र होते हैं। इनमे स्वभावतः पहला स्वरूप अधिक स्थूल और अविकसित है।

रूपक अपने प्रकृत रूप में अत्यन्त प्राचीन सृष्टि है। धर्म की विवेचना का यह सब से सीधा और सरल साधन है। स्वदेश-विदेश के सभी धर्म-ग्रन्थों में रूपक भरे पड़े हैं। अपने यहाँ उपनिषद् की तो व्याख्या-शैली ही रूपक के आश्रित है। महाभारत छोटे-छोटे साहित्यिक रूपकों का भण्डार है। संस्कृत-काल में भी अनेक रूपक लिखे गये—जिनमें प्रबोध-चन्द्रोदय सब से अधिक प्रसिद्ध है। योरोप मे 'क्रिश्चियन पैरेबिल्स' (ईसाई धर्म की गाथायें) रूपक के आदिम उदाहरण हैं। उनके बाद 'मोरेलिटी प्लेज़' की धूम रही। पर अङ्गरेजी के समृद्ध काल मे स्पेंसर की 'फेअरी क्वीन' और 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस'-ये दो ही रूपक प्रख्यात हुए। एक का आधार सामन्तीय-राजनीतिक और दूसरे का धार्मिक है। आधुनिक युग में समस्या-नाटकों का सृजन हुआ। वास्तव में ये समस्या नाटक भी एक प्रकार के रूपक ही हैं—विशेषकर ऐसे नाटक जिनमें पात्र स्वतन्त्र व्यक्तित्व वाले न होकर लेखक की मान्यताओं के प्रतीक मात्र हैं। बस अन्तर इतना है कि यहाँ सिद्धान्त आध्यात्मिक अथवा नैतिक न होकर सामाजिक और राजनीतिक हो गये हैं। हिन्दी मे प्रेममार्गी संत कवियों के काव्यग्रन्थ ही सब से पहले रूपक हैं। जायसी ने पद्मावत के

अन्त में अपनी कविता के रूपक तत्त्व की स्पष्ट शब्दों में व्याख्या की है। इसके बाद तत्वरूप में समस्त वैष्णव-साहित्य ही एक रूपक है। रीतिकाल में देव का 'देवमाया-प्रपञ्च' नाटक लिखा गया और 'प्रबोध-चन्द्रोदय' का हिन्दी अनुवाद हुआ। आधुनिक युग में कामायनी सृष्टि-तत्व का विराट रूपक है। किन्तु हमारा प्रयोजन इन सब से नहीं है। हमारा अभिप्राय यहाँ हिन्दी के उन नाट्य-रूपकों का विवेचन करना है जो संस्कृत के 'प्रबोध चन्द्रोदय' अथवा हिन्दी के 'देवमाया-प्रपञ्च' की परम्परा में लिखे गये हैं। ये नाट्यरूपक केवल चार हैं और चारों ही हिन्दी के नाट्य-साहित्य में अपना महत्व रखते हैं। (नाट्य-रूपक का स्वरूप स्वतः-स्पष्ट है—उपर्युक्त रूपक का नाट्यबद्ध रूप ही नाट्य-रूपक है)।

कामना—

कामना सांस्कृतिक रूपक है। इसमें प्रसाद जी की सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की भावना का एक व्यक्त रूप मिलता है। प्रसादजी जिज्ञासा से आन्दोलित हृदय रखते हुए भी आदर्श रूप मे आनन्द के पुजारी थे। प्रकृति का स्वस्थ स्निग्ध अञ्चल छोड़, संतोष और विवेक का तिरस्कार करते हुए विलास-मोहिता हमारी कामना ने जब से स्वर्ण और कादम्ब की उपासना प्रारम्भ की तभी से हमारे दुःख का इतिहास भी शुरू हुआ। मानवता का परित्राण तभी सम्भव है जब वह (हमारी कामना) फिर से संतोष का पाणिग्रहण करे। कामना की दार्शनिक पृष्ठभूमि का पूरा-पूरा चित्र देखिये—

'खेल था और खेल ही रहेगा। रोकर खेलो चाहे हँस कर। इस विराट विश्व और विश्वात्मा की अभिन्नता, पिता और पुत्र, ईश्वर और सृष्टि सब को एक में मिला कर खेलने की सुखद क्रीड़ा भूल जाती है, होने लगता

है विषमता का विषमय द्वन्द्व । तब सिवा हाहाकार और रुदन के क्या फैलेगा ? हँसने का काम भूल गये । पशुता का आतङ्क हो गया । मनुष्यता की रक्षा के लिये, पाशवी वृत्तियों का दमन करने के लिये राज्य की अवतारणा हो गई; परन्तु उसकी आड़ में दुर्दमनीय नवीन अपराधों की सृष्टि हुई । इसका उद्देश्य तब सफल होगा, जब वह अपना दायित्व कम करेगी--जनता को, व्यक्ति को, आत्म-संयम और आत्म-शासन सिखा कर विश्राम लेगी । जब अपराधों की मात्रा घटेगी और क्रमशः समूल नष्ट हो जायगी, तब संघर्षमय शासन स्वयं तिरोहित होगा। उस दिन की प्रतीक्षा में कठोर तपस्या करनी होगी, जिस दिन ईश्वर और मनुष्य, राजा और प्रजा, शासित और शासकों का भेद विलीन होकर विराट विश्व, जाति और देश के वर्णों से स्वच्छ होकर एक मधुर मिलन-क्रीड़ा का अभिनय करेगा ।'

स्थूल रूप से इस दर्शन का आधार प्रकृति के प्रति प्रतिवर्त्तन की पुकार है--और तत्त्व रूप से अद्वैतवाद । इसका ढाँचा आध्यात्मिक साम्यवाद (अगर ऐसी कोई वस्तु हो सकती है) पर आश्रित है ।

कामना का रूपक साँगोपांग है । उसके सूक्ष्म अवयव कथा की एक धारा में शैथिल्य भले ही उत्पन्न कर देते हों, लेकिन कहीं भी वे असम्बद्ध और स्वतन्त्र नहीं होने पाते है । कामना मानव मनःलोक की रानी है--वह विलास के प्रति आकृष्ट होती है, पर उसके साथ उसका विवाह नहीं होता—वह विलास के जाल में फंसी हुई सुख के लिये तरसती ही रहती है, और अन्त मे सन्तोष के साथ उसका परिणय होता है । (अर्थात् मनुष्य की कामना की परितृप्ति विलास द्वारा नहीं, संतोष द्वारा ही सम्भव है) । विलास कामना को छोड़ लालसा से परिणय करता है-दोनों एक दूसरे के आकर्षण पर मुग्ध हैं । विलास अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये स्वर्ण और मदिरा का प्रचार करता है और फिर धीरे-धीरे सभ्य शासन की दुहाई देकर, लोगों पर नियन्त्रण

करना आरम्भ कर देता है। (स्पष्ट शब्दों में–मनुष्य की लालसा ही विलास से थोड़ी देर के लिये तृप्त हो सकती है—पर विलास और लालसा के वशीभूत हो कर मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता खो बैठता है और इस प्रकार दुःख का आरम्भ होता है)। लीला के द्वारा ही सबसे पूर्व स्वर्ण और मदिरा के रहस्य का उद्‌घाटन होता है। लीला का पति विनोद विलास के प्रभुत्व स्थापन में सब से अधिक सहायक होता है। विवेक और सन्तोष उसका विरोध करते हैं—विवेक उग्रता से, सन्तोष विनम्र शब्दों में। (इसका तात्पर्य यह है कि लीला से ही मनुष्य पहले धन की ओर आकृष्ट होता है। लीला और विनोद विलास के अङ्ग हैं—उनसे उसकी परिवृद्धि होती है, विवेक और सन्तोष से ह्रास। विवेक का बार-बार आकर रङ्ग में भङ्ग करने का प्रयत्न इस बात की ओर इंगित करता है कि हमारा विवेक हमारे विलास-रत जीवन में भी किस प्रकार बार-बार चेतावनी देता रहता है)। विलास के शासन में भेद भावना, कृत्रिम शिष्टाचार, भय, आतंक आदि के साथ मृगया, फिर माँस-भक्षण, चोरी, व्यभिचार आदि का क्रमशः प्रचार होता है। आचार्य दम्भ, क्रूर–दुर्वृत्त और प्रमदा की सहायता से देश में धर्म, संस्कृति और सभ्यता का निर्माण करते हैं। बेचारे शान्तिदेव सोने के चक्कर में मारे जाते हैं, उनकी बहिन करुणा भटकती फ़िरती है। (अर्थात् हमारी आज की संस्कृति-सभ्यता की नींव, दम्भ दुर्वृत्ति और क्रूरता पर आधारित है; शान्ति नष्ट भ्रष्ट हो गई है, करुणा निराश्रित)। फिर अपने देश से सन्तुष्ट न रह कर प्रकाश दूसरे देश पर आक्रमण करता है बुद्धि की प्रतारणा होती है. अनाचार के बढ़ने से मानवता त्राहि-त्राहि करने लगती है। अब कामना को अपनी भूल का ज्ञान होता है और वह सन्तोष को वरण करती है। सब मिल कर विलास और लालसा को उनकी समस्त स्वर्णराशि के साथ समुद्र में

विसर्जित कर देते हैं। सोने के भार से नाव डगमगाती है, फूलों के देश में शान्ति हो जाती है। (इसका अर्थ यह है कि विलास और लालसा से मुक्त हो जाने हर ही मानवता को प्रकृत सुख और शान्ति मिलेगी। फूलों का देश प्राकृतिक जीवन का प्रतीक है। इस देश के निवासियों का तारा की सन्तान होना, और खेल के लिये उनका पिता द्वारा इस देश में भेजा जाना वेदों का प्राचीन सृष्टि-सिद्धान्त है। इस प्रकार नाटक के दार्शनिक आधार और कथावस्तु में साम्य-भावना समान्तर रूप से अनस्यूत है।

शास्त्रीय दृष्टि से रूपक की यह सबसे बड़ी सफलता है। अङ्गरेजी के कवि स्पेंसर की 'फेअरी क्वीन' रूपक की दृष्टि से बहुत सफल इसलिये नहीं कही जाती कि उसमें कवि मूलसूत्र को छिन्न-भिन्न कर स्थान-स्थान पर वर्णनों के मोह में भटक जाता है। प्रसादजी की कामायनी भी इस दृष्टि से निर्दोष नहीं है-- उसकी कथावस्तु में असंगति है और उसके प्रतीकात्मक वर्णन प्रायः स्वतन्त्र हो जाते हैं। आचार्य शुक्ल ने उसकी इस त्रुटि का सुन्दर विवेचन किया है। फिर भी काव्य के लिए शास्त्रीय कसौटी गौण महत्व रखती है—उसमें मानव-मन को मोहने की शक्ति होनी चाहिए। कामना में यह गुण प्रचुर नहीं है। उसकी कथा में मानवीय रोचकता (human interest) कुछ क्षीण है। सैद्धान्तिक आधार कुछ अधिक स्पष्ट होने के कारण वह हमारे मन को रमाये रखने में असमर्थ है। पर यह तो रूपक-कथा का प्रकृत प्रतिबन्ध है—यह बात भी हमें न भूलनी चाहिए।

कामना सिद्धान्त-वश सुखान्त नाटक है। यह सिद्धान्त टेकनीक का इतना नहीं है जितना कवि के अपने जीवन का। जैसा कि मैं कह चुका हूँ प्रसादजी आनन्द के उपासक थे, उनकी गहन जिज्ञासा उन्हें जितना विचलित करती थी, उतने ही आग्रह से वे आनन्द को प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे। अतः उन्होंने कामना

में बहती हुई दुःख की धारा को बरबस मोड़ कर सुख में परिणत कर दिया। एक आलोचक ने यह प्रश्न किया है कि क्या यह सम्भव है ? हम भी सचमुच यही सोचते हैं कि क्या यह सम्भव है ? और शायद प्रसादजी भी ऐसा ही सोचते थे--यही कारण है कि कामना और कामायनी दोनों का अन्त स्वभाव-सिद्ध—कम से कम क्रमिक नहीं है--आग्रह से ग्रहण किया हुआ है, और आग्रह में विश्वास इतना नहीं होता जितना कि विश्वास का प्रयत्न। मेरे मन में आता है कि कामना शायद ट्रेजेडी रूप में अधिक सफल होती। आज हमारी बुद्धि कहती है कि हम निरन्तर सभ्य होरहे हैं, विकास की ओर बढ़ रहे हैं परन्तु निरन्तर बढ़ते हुए असन्तोष से दबी हुई आत्मा कहती है कि हमारा पतन हो रहा है। आज कम से कम भारतवासी इसी द्वन्द से आहत हैं, उनके जीवन की यही ट्रेजेडी है और कामना की भी यही। इसको हम सुलझा नहीं सकते, हमारे पास इसका समाधान नहीं है, इसलिए इसको हम यों ही छोड़ देना चाहते हैं। नाटककार ने यह नहीं किया। इतनी दूर तक हमारे साथ चल कर अन्त में वह एक साथ सारी शक्ति लगा कर पीछे दौड़ जाता है। और एक क्षण में जहाँ से चला था, वहीं पर दिखाई देता है। बस यहीं वह हमारी परितृप्ति नहीं कर, पाता और इसीलिये उसमें वाञ्छित गहराई नहीं आ सकी।

कामना के पात्र सभी प्रतीक हैं, फिर भी उनकी रेखायें अस्पष्ट नहीं हैं। कामना और विलास का व्यक्तित्व काफ़ी मांसल है। विवेक में ख़ासी शक्ति है। उधर लालसा के चरित्र की रेखायें चञ्चल हैं। शेष पात्र साधारण रूपक के पात्र हैं। सन्तोष, करुणा क्रूर, दुर्बल आदि का कोई विशिष्ट अस्तित्व नहीं। नाटककार का कामना और लालसा इन दो प्रवृत्तियों का प्रथक्करण भी अधिक व्यक्त नहीं हो सका।

नाटक का वातावरण एकदम रोमान्टिक है, उसमें फूलों के देश के रंगीन चटकीले दृश्य हैं। कथोपकथन में वाञ्छित तरलता है, सिद्धान्त प्रतिपादन की प्रचुरता होते हुएभी वह कहीं बोझिल और मन को थकाने वाला नहीं होसका। कवित्व का उल्लास तो कामना में बिखरा हुआ है। भाषा एकदम रंगीली और चित्रमय है। गानों में, विशेषकर लालसा के गीतों में यौवन की उष्ण गन्ध है—

'छिपाओगी कैसे—
आँखे कहेंगी।
बिथुरी अलक पकड़ लेती है
प्रेम की आँखे चुराओगी कैसे—
आँखे कहेंगी।
राग-रक्त होते कपोल हैं
लेते ही नाम, बताओगी कैसे—
आँखे कहेंगी।,

अन्त में सूक्ष्म रूप से देखने पर कामना में कामायनी के आधार तत्व मिल जाते हैं, इस दृष्टि से भी उसका महत्त्व है।

ज्योत्स्ना—

गुञ्जन के उपरान्त १६३४ ई० में पन्तजी 'ज्योत्स्ना' नाटिका में प्रकट हुए। कविवर निराला के शब्दों में ज्योत्स्ना में उनका पहिला, प्रिय भावमय श्वेत वाणी का कोमल कवि रूप ही दृष्टिगोचर होता है, नाटककार का नहीं। गुञ्जन में हमने देख लिया था कि कवि की काव्यधारा किस प्रकार प्राकृतिक क्षेत्र से हट कर मानव-जीवन के क्षेत्र में अवतरित हो गई थी। अब वे दार्शनिक सत्यों की ओर झुक गये थे। इसी विचारधारा का

विकसित स्वरूप उनकी ज्योत्स्ना में मिलता है।

पन्तजी ने आधुनिक संसार की समस्याओं को सुलझाने के लिए कुछ सिद्धान्तों की सृष्टि की है और उन्हीं की वाहिका-स्वरूप यह मूनशाइन है। इसकी कथावस्तु बहुत मामूली है—लगभग नहीं के बराबर। संसार में सर्वत्र ऊहापोह और घातक-क्रान्ति देखकर इन्दु उसके शासन की बागडोर अपनी महिषी ज्योत्स्ना को दे देता है जो स्वर्ग से भू पर आकर पवन और सुरभि अथवा स्वप्न और कल्पना की सहायता से संसार में प्रेम का नवीन स्वर्ग, सौन्दर्य का नवीन आलोक, जीवन का नवीन आदर्श स्थापित कर देती है। यही कथा पाँच अङ्कों में कही गई है। पहिले अङ्क में सन्ध्या और छाया का पारस्परिक वार्त्तालाप सूचना देता है कि इन्दु अपने शासन की बागडोर वह ज्योत्स्ना को देना चाहता है; एवं साथ ही संकेत करता है कि संसार में स्वर्ग उतर आयेगा। दूसरे में, विलासी इन्दु एवं संयमिता विश्व-प्रेमिका ज्योत्स्ना अपने पूर्ण वैभव के साथ उपस्थित होते हैं। इन्दु ज्योत्स्ना को भूलोक के शासन की बागडोर दे देता है और उसे संसार में स्वर्ग उपस्थित करने की प्रेरणा करता है। इस प्रकार कार्य (?) विकसित होता है। तीसरे अङ्क में ज्योत्स्ना पवन और सुरभि के साथ मृत्युलोक में आ जाती है और संसार की स्थिति पूछने पर पवन उसके समस्त आधुनिक युग का एक बड़ा ही सशक्त और सुन्दर चित्र उपस्थित करता है। वह बतलाता है कि

'एक ओर धर्मान्धता, अन्ध-विश्वास, और जीर्ण-रूढ़ियों से संग्राम चल रहा है, दूसरी ओर वैभव और शक्ति का मोह मनुष्य की छाती को लोह-शृंखला की तरह जकड़े हुए है। बुद्धि का अहंकार, प्रखर, त्रिशूल की तरह बढ़ कर मनुष्य के देवत्व-प्रिय स्वभाव, एवं आदर्श प्रिय हृदय को स्वार्थ की नोंक से छेद रहा है।'

इतने ही में मृत्यु-लोक के दूत के रूप में झींगुर का कर्कश

स्वर सुनाई देता है जो पवन के विश्लेषणात्मक वर्णन का संश्लिष्ट रूप में समर्थन करता है—

जो है समर्थ, जो शक्तिमान,
जीने का है अधिकार उसे,
उसकी लाठी उसका बैल विश्व,
पूजता सभ्य संसार उसे।

इस बेसुरे अलाप को सुन कर ज्योत्स्ना की सहानुभूति एक साथ उत्तेजित हो जाती है। वह पवन और सुरभि पर हाथ फेर कर स्वप्न और कल्पना का रूप दे देती है। फिर उनको आज्ञा देती है कि काव्य, संगीत, शिल्प—एक शब्द में—कला द्वारा मनुष्य के सम्मुख जीवन की उन्नत मानवी मूर्त्तियों को स्थापित करें और उसे जड़ता से चैतन्य की ओर, शरीर से आत्मा की ओर, रूप से भाव की ओर अग्रसर करें। स्वप्न और कल्पना उसकी आज्ञा को शिरोधार्य कर अपने उपायों (Designs) का एक छाया-प्रदर्शन उपस्थित करते हैं—बस वे (स्वप्न और कल्पना) सुप्त मनुष्य जाति के मनोलोक में प्रवेश कर मनुष्यों में नवीन संस्कार एवं भावनाएँ जागृत करते हैं। फलतः नवयुग का निर्माण करने के लिए कोमल और स्वस्थ मानसी भावनाएँ प्रकट होती हैं, जिनके नाम हैं—भक्ति, शक्ति, दया, सत्य, श्रेय, समतानुराग, साधना, धर्म, निष्काम कर्म, करुणा, ममता, स्नेह, कला आदि आदि। इनके प्रसार से मृत्युलोक की काया पलट जाती है और वह विश्व-बन्धुत्व की स्थापना द्वारा एक आदर्श गृहस्थ का रूप धारण कर लेता है। इसी में पन्तजी की सामाजिक, राजनीतिक, कला और सदाचार सम्बन्धी भावनाओं के प्रतिरूप भिन्न-भिन्न स्त्री-पुरुष उपस्थित होते हैं और अपने सिद्धान्तों की व्याख्या करते हैं।

इसके उपरान्त ज्योत्स्ना अपना कार्य समाप्त कर पुनः स्वर्ग

लोक को प्रयाण करती है। और चौथे अङ्क में, छाया और उल्लू देखते हैं कि सत्प्रवृत्तियों का अधिक प्रचार बढ़जाने पर, प्रयोजन न रहने के कारण असत्प्रवृत्तियाँ अनेकों कदाकार कुरूप वेश धारण कर धीरे-धीरे तम में विलीन हो रही हैं। लावा पक्षी आगामी प्रभात की सूचना देता है। पाँचवाँ अङ्क अब इस दुर्धर और भयङ्कर अन्धकार के उपरान्त एक साथ प्रकाश विकीर्ण कर देता है। उषा का आगमन संसार में स्वर्ग ला देता है। ओस, तितली, लहर आदि सभी में सुख का संगीत फूट निकलता है। इस प्रकार उपरोक्त कथानक मे एक विकास तो अवश्य है परन्तु उसका तानाबाना वायवी होने के कारण यह विकास स्पष्ट लक्षित नहीं होता।

पन्तजी ने जो विकसित मानववाद और काल्पनिक समाजवाद के सामञ्जस्य द्वारा अपना नया स्वर्ग निर्माण किया है उसी का इन्होंने इस नाटिका में आख्यान किया है। इसका सारांश यह है कि

'जिस प्रकार यह पृथ्वी बाहर से एक है उसी प्रकार भीतर से भी इसे एक आत्मा, एक मन, एक वाणी और एक विराट संस्कृति की आवश्यकता है।'

कवि की राजनीतिक, आध्यात्मिक, प्रेम एवं कला सम्बन्धी भावनाएँ इस रूपक में बड़े स्पष्ट रूप से मिलती हैं। ये सभी विचार प्रौढ़ चिन्तन और अध्ययन के फलस्वरूप हैं और बड़े सशक्त शब्दों मे अभिव्यक्त किये गये है।

नाटक की दृष्टि से देखने पर जैसा कि वस्तु विकास से स्पष्ट है यह कृति सर्वथा असमर्थ है। क्योंकि इसमें न कार्य (action) का कहीं पता है न कहीं चरित-विकास का। यद्यपि इन्दु, ज्योत्स्ना पवन, और दूसरे शक्ति आदि पात्र काफी स्पष्ट हैं। परन्तु ये भावनाओं के पुलन्दे हैं। उनका मांसल व्यक्तित्व नहीं। वार्त्तालाप की भी यही दशा है। इन वायवी पात्रों का वार्त्ता-

लाप बड़ा गम्भीर, ठोस और सैद्धान्तिक होते हुए भी, हमें वार्तालाप के रूप में तनिक भी आकृष्ट नहीं करता है। उसमें एक अनावश्यक स्थिरता है। कहीं उल्लू आदि की दो एक बातें ही चापल्य लिये हुये हैं। तीसरे अङ्क में वेदव्रत, सुलेमान हेनरी की बातें सुनकर तो लगभग सभी पाठकों को यही कहना पड़ता है कि 'आप दार्शनिक हैं— इन जटिल पहेलियों को आप ही समझ सकते हैं'। इसी कारण कार्य (action) का इसमें नाम तक नहीं—रूपक में ये वैसे भी होता ही कम है।

परन्तु ज्योत्स्ना का मूल्य इस दृष्टि से नहीं है। इसका महत्व अनुभव करने के लिए हमें देखना चाहिये—इसका दृश्य-विधान इसके गीत, और अन्त में इसका दार्शनिक उद्देश्य।

दृश्यों के चित्रण में पन्तजी ने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है। कवि की सूक्ष्म दृष्टि और चितेरी कल्पना ने सन्ध्या, ज्योत्स्ना, छाया, झींगुर एक प्रकार से सभी काव्यगत अमूर्त वस्तुओं का बड़ा सजीव और सच्चा चित्रण किया है। प्रत्येक चित्र व्यञ्जना की सहायता से अपूर्व सत्यता लिए हुए है। दृश्य-विधान ज्योत्स्ना का-सा मेरे विचार में और किसी नाटक में कठिनता से मिलेगा।

आपने सुरभि का मधुर अनुभव तो न जाने कितनी बार किया होगा। उसका मूर्त्त स्वरूप भी देखिए—

'बाईं' ओर पुष्पों के हृदय से उच्छ्वसित दुर्निवार कामना-सी सुरभि, पुष्पों की चटकीली पंखड़ियों से लदी, लालसा से लाल पल्लवों की चोली पहिने, मदिर गन्ध निर्गत करती, केसरी अलकों में रजनी-गन्धा की माला बाँध रही है!'

कहने की आवश्यकता नहीं कि पन्तजी ने 'स्वप्नों के वायवी सौन्दर्य को स्थूल वास्तविकता के पाश में बाँधकर जो कार्य किया है वह असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है'।

ज्योत्स्ना में अनेक प्रकार के गीत मिलेंगे। कहीं छाया का

अलसाया हुआ गीत है तो कहीं पवन का सनसन गान है; ताराओं का गीत यदि टिमटिमाता है, तो किरणों का प्रकाश-चञ्चल है। एक ओर ओस का चटुल-तरल तराना है तो दूसरी ओर विकराल प्रलय-गीत। इसी प्रकार कहीं सुखी मानव समाज का विश्वकामना से उद्भासित हृष्ट प्रगान है तो कहीं झींगुर का पशुवृत्तियों से प्रेरित कर्कश गान। वास्तव में ज्योत्स्ना के सभी गाने प्रतीकात्मक हैं। उनमें गायक के बाह्य और अन्तर का पूर्ण सामञ्जस्य मिलता है। साथ ही व्यञ्जना की सहायता से वे पात्र विशेष के मुख में उचित रूप से फिट भी कर दिये गये हैं। इन सभी गीतों में पन्तजी के भावों की सुकुमारता, कल्पना की सूक्ष्म-ग्राहकता और शाब्दिक शक्ति की चित्रमयता का पूर्ण प्रमाण मिलता है। साथ ही उन सभी में नाटकोचित सङ्गीतधारा भी है। तनिक जुगुनुओं का गीत तो सुनिए - देखिए किस प्रकार उसमें जुगुनुओं की सी जगमग है—

जग मग जग मग, हम जग का मग
ज्योतित प्रतिपग करते जग मग।

× ×

चञ्चल चञ्चल, बुझ बुझ जल जल।
शिशु उर पल पल हरते छल छल।

अब दार्शनिक उद्देश्य रह गया। ज्योत्स्ना में नाटक का ढाँचा ही कुछ सिद्धान्तों की व्याख्या करने को ग्रहण किया गया है, और सचमुच यह उद्देश्य बड़ा महान और दिव्य है। इसकी ओर संकेत प्रारम्भ मे किया जा चुका है। ज्योत्स्ना में पन्तजी के अपने विचारों का बड़ा सुन्दर संकलन है। कला, प्रेम, सत्य, शासन आदि आदि अनेकों बातों पर आपके विचार बड़े गहन और सुन्दर हैं। वास्तव मे विश्व-कामना एवं मानव की महिमा से इतने ओत-प्रोत काव्य हिन्दी में अनेक नहीं हैं। इसकी दार्श-

निक प्रौढ़ता और भव्यता अपूर्व है। आइए हम भी कवि के साथ गायें—

मंगल, चिर—मंगल हो
मंगलमय सचराचर,
मंगलमय दिशिपल हो।
तमस-मूढ़ हों भास्वर
पतित-क्षुद्र-उच्च-प्रवर
मृत्यु-भीत नित्य अमर
अग जग चिर उज्ज्वल हो।

छलना—

छलना की समस्या का क्षेत्र कामना और ज्योत्स्ना की अपेक्षा संकुचित है, और धरातल नीचा। इसमें नारी की समस्या यद्यपि आदिम एवं चिरंतन समस्या के रूप में ग्रहण की गई है (और वह है भी), फिर भी उसका धरातल सामाजिक है, और इसलिए हमारे निकट है। उसकी पृष्ठभूमि में कामना का फूलों का लोक नहीं है और न ज्योत्स्ना का इन्दुलोक, वहां तो हमारा आज का संघर्षमय समाज है। उसके पात्र-पात्रियाँ तारा की संतान अथवा द्यौलोक के ज्योतिर्पिंड न होकर—'इन्टरमीडिएट कालिज का अध्यापक, बी० ए० का छात्र, फ़िल्म अभिनेता और रिटायर्ड सैशन्स जज की पुत्री—आदि हैं।

हाँ, तो छलना की समस्या नारी की समस्या है। कल्पना नारी का स्वरूप है—चञ्चल, उच्चाकांक्षा से भरी हुई विलास की और उन्मुख—परन्तु भीतर गहरे मे नारीत्व की निधि को संजोने-वाली: बलराज पुरुष है, गम्भीर, संयत, अभिमानी और दृढ़। एक और पात्र है—विलास। विलास पुरुष के बाह्यरूप की, अधूरी तस्वीर है—आकर्षक, अपनाने की शक्ति लिए हुए, शिष्ट

छली और अदृढ़। कल्पना की उच्चाकांक्षाएँ बलराज के गम्भीर मर्यादित और सन्तुष्ट जीवन से टकराकर वापस लौट आती हैं—इसीलिए वह दुखी है—बलराज के प्रति उसको आकर्षण नहीं होता। अतः प्रेम भी नहीं—परन्तु बलराज के पुरुषत्व के प्रति उसे श्रद्धा अवश्य है। विलास उसे आकृष्ट करता है—उसको वहाँ रंगीन दृश्य दिखाई देते हैं—पर विलास भी उसे नहीं पा सकता क्योंकि उसमें वाञ्छित पुरुषत्व की कमी है। वह उसकी आत्मा में बैठी हुई नारी का स्पर्श नहीं कर सकता। कल्पना इन दोनों के बीच भटक जाती है—यही उसके जीवन की छलना है। जब कभी नारी प्रकृत पुरुषत्व से असन्तुष्ट होकर आकर्षक (बिला-समय) पुरुषत्व की ओर आकृष्ट हुई है तभी उसके जीवन में ट्रेजेडी घटित हुई है।

कामना नारी के बाह्यरूप की तस्वीर है: अधूरी—चञ्चल, विमुग्ध और मोहक। वह विलास की मित्र है। उन दोनों की प्रकृति समान है, पर वे जैसे एक दूसरे के अभाव से भलीभांति परिचित हैं—इसलिए वे एक दूसरे को अपना नहीं सकते। वह बम्बई जाती है, वहाँ निद्रा के रूप मे अभिनेत्री बन कर बलराज (पुरुष) को भुलाए रखने का प्रयत्न करती है। बलराज का उससे मन बहलता है अथवा नहीं, पर वह सर्वथा उससे असंपृक्त रहता है, इस कारण कामना उससे डरती है।

नारी का तीसरा रूप है चम्पी: कुरूप, लंगड़ी, भाग्य की मारी हुई, पति के द्वारा निर्वासिता, फिर भी उसकी मीठी स्मृति हृदय में छिपाए हुए, सन्तुष्ट—इसलिए कल्पना और कामना की अपेक्षा अधिक सुखी, फिर भी वास्तव में दुखी। यह नारी के अन्तर का चित्र है।

इन दोनों (कामना और चम्पी) एक पहलू चित्रों के बीच लेखक ने बड़े कौशल के साथ नारी का पूरा चित्र रखा है।

कामना का चित्र अपनी झूठी चमक से और चम्पी का अपने कालेपन से कल्पना की रेखाओं को गहरा करता है (उसकी ट्रेजेडी को तीखा)।

छलना, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, ट्रेजेडी है। बलराज को फिर से पाकर भी कल्पना विलास की मृत्यु की बात सुनकर मूर्छित हो जाती है और उसकी मूर्छित अवस्था में ही पर्दा गिरता है। बलराज ट्रेजेडी की कितनी स्पष्ट व्याख्या करता है—

'प्रतीत होता है, मनुष्य की आत्मा के साथ विलास का ऐसा ही सम्बन्ध होता है। आदर्श का सम्पर्क होते ही वह अन्तर्धान हो जाता है··· और ट्रेजेडी यह है) किन्तु कल्पना उसे मृत्यु के बाद भी अपने से पृथक नहीं कर पाती।'

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने व्यर्थ ही इस समस्या का समाधान ढूँढ़ने का प्रयत्न किया है। इसका समाधान लेखक के पास नहीं है, तभी तो इस रूपक का नाम छलना है।

छलना की टेकनीक में बहुत सफाई नहीं है। चम्पी, सूर, जगेसर—और उधर नवीन, कथावस्तु के अङ्ग नहीं हैं। उनका सम्बन्ध प्रभाव से ही है। नारी को कल्पना नाम ही क्यों दिया गया, क्या कल्पना के व्यक्तित्व में केवल कल्पना ही है? अथवा क्या आकांक्षा और कल्पना एक ही वृत्ति है? आदि, प्रश्न हमारे मन मे उठ सकते हैं। नवीन किस भावना का प्रतीक है? बलराज के पुरुष-रूप की रूप-रेखा स्पष्ट करने के अतिरिक्त रूपक की अन्तर्धारा में नवीन का क्या प्रयोजन है? पर ये बातें सभी गौण हैं। छलना में मानवीय रोचकता का गुण कामना से कहीं अधिक है—ज्योत्स्ना से तो इस दृष्टि से उसकी तुलना ही क्या? उसके पात्रों की रूपरेखा एक दम मांसल है, विलास और बलराज का चरित्राङ्कन बहुत प्रौढ़ है। वे कहने को प्रतीक हैं, पर उनके व्यक्तित्व किसी भी स्वतन्त्र पात्र के व्यक्तित्व से समता कर सकते

हैं। रङ्ग-संकेत सामाजिक, और पात्र सजीव होने के कारण अभिनय का गुण (रजतपट पर) इस नाटक में बराबर मिलता है। भाषा मे व्यञ्जना और कवित्व तो है, परन्तु सर्वत्र सुख-सरल गति नहीं है। गाने मीठे हैं।

नवरस—

नवरस में साहित्य-शास्त्र के रसों को मानव रूप में उपस्थित कर उनके आधार पर आधुनिक युद्ध-समस्या का विवेचन और समाधान किया गया है इसका नायक है वीरसिंह जो वीररस का प्रतीक है और नायका है प्रेमलता जो शृङ्गार की प्रतिमूर्ति है, रौद्र-रस का मानवरूप रुद्रदेव है, भयानक का भीम, वीभत्स का ग्लानिदत्त, हास्य की लीला, करुण की करुणा और शान्त की शान्ता। वात्सल्य को 'मधु' नाम देना विशेष तर्क-सङ्गत नहीं हुआ—'वत्स' शायद अधिक संयत होता, इसी प्रकार अद्भुतचन्द्र भी अजीब-सा नाम है। उसमें स्वाभाविकता की रक्षा नहीं हो सकी। न केवल नाम और रूप में ही वरन् इन रसों के पारस्परिक सम्बन्ध-निर्वाह में भी लेखक ने सावधानी से शास्त्रीय क्रम और नियम का पालन किया है। वीर और शृङ्गार का परिणय प्राचीन शास्त्र-सम्मत विषय है जो सभी देशों और कालों में अभीप्सित रहा है—

'None but the brave deserve the fair'

लीला (हास्य) को प्रेमलता (शृङ्गार) की बहिन (सहचारी) मानना भी सर्वथा उचित है। शांता (शांत) का रुद्रसेन (रौद्र) से विरोध है, इसी प्रकार वीरसिंह की बहिन होते हुए भी वह उसका युद्ध-वीर रूप में विरोध करती है। भीम (भयानक) और रुद्रसेन (रौद्र) का विरोध भी शास्त्रोक्त है। प्रेमलता (शृङ्गार) और मधु (वात्सल्य) का सहज सम्बन्ध है—प्रेमलता और

करुणा का सम्बन्ध प्राचीन रस-शास्त्र के अनुकूल न होता हुआ भी कम से कम आज के मनोविज्ञान के अनुसार अवश्य है। अन्त में शांता द्वारा वीरसिंह और प्रेमलता का परिणय तत्व-दृष्टि से यह अर्थ रखता है कि उत्साह और रति पर निर्वेद (संयम) का अनुशासन अनिवार्य है; तभी पूर्ण आनन्द (रस) की प्राप्ति हो सकेगी। इसके अतिरिक्त रस-वर्ण का भी नाटक में ध्यान रखा गया है। लीला का चित्र, उसकी वेश-भूषा शुभ्र है; रुद्रसेन की लाल, भीम का वर्णकाला, वीरसिंह की पोशाक हेमवर्ण और अद्भुतचन्द्र की पीत। प्रेमलता की भूषा नीली है—और उसी के अनुरूप मधु की भी। आकृति के साथ वाणी और कर्म का संयोग भी मानवीकरण के लिए आवश्यक है, परन्तु यह जितना पूर्ण होना चाहिए था उतना नहीं हो सका। वीरसिंह निर्वीर्य है, प्रेमलता में भी शृङ्गार की उष्णता नहीं है। यद्यपि शांता और रुद्रसेन जिन पर इस नाटक का संघर्ष अवलम्बित है, और लीला भी, काफी सप्राण हैं, फिर भी रस के इन प्रतीकों का व्यक्तित्व जितना तीखा होना चाहिए था उतना नहीं हो सका। ऐसा लेखक में कवित्व गुण क्षीण होने के कारण हुआ है—और यही इस नाटक की सब से बड़ी दुर्बलता है।

बस इससे आगे रूपक को लेजाना निरर्थक होगा। इस रूप को जिस कथा का माध्यम बनाया गया है, उसका—उसके विचार (Central Idea) का रस-निष्पत्ति से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है—अर्थात् प्रस्तुत और अप्रस्तुत में सादृश्य और साधर्म्य दोनों गुणों का ही अभाव है। लेखक ने गांधी-दर्शन के अनुसार आज की सबसे प्रधान समस्या युद्ध का विवेचन-समाधान किया है। इस दृष्टि से 'नवरस' कवि सियारामशरण के 'उन्मुक्त' का मित्र और समकालीन है। इसमें भी अहिंसा के द्वारा हिंसा की शान्ति का आयोजन है। नाटककार ने शांता को

अहिंसा का प्रतीक बना प्रस्तुत और अप्रस्तुत कथा का सुन्दर ढङ्ग से सगुंफन कर, अपने वास्तु-कौशल का परिचय दिया है। विचार में कोई मौलिकता न होते हुए भी नाटक के सामयिक चित्र कहीं-कहीं चोट कर जाते हैं—

'फिर लड़ाई के सदृश संहारकारी संवादों पर तो सब से अधिक हँसना चाहिए। यह इसलिए कि कहीं उस संहार में अपना भी संहार हो जाय, तो संहार के पहले खूब हँस तो लिया जाये जो दुनिया में सब से अधिक जरूरी है।'

हमारी आज की असहायावस्था पर कैसा स्पष्ट व्यंग्य है!

विवेचन

इन रूपकों में कुछ स्पष्ट विभेद हैं जिनका विवेचन इन्हें समझने में सहायक हो सकता है। पहला है उद्देश्य का : कामना और ज्योत्स्ना का उद्देश्य एक आदर्श समाज का निर्माण करना है—ये दोनों वास्तव मे रूपक होने के साथ-साथ यूटोपिया भी हैं। छलना में जीवन के एक प्रमुख तत्व की मनोवैज्ञानिक व्याख्या है, नवरस स्पिरिट मे राजनीतिक अथवा नैतिक होते हुए भी साधारणतः शास्त्रीय रूपक हैं। कामना और ज्योत्स्ना के आदर्श विधान में एक विशेष अन्तर तो यही है कि कामना का आधार सांस्कृतिक है, ज्योत्स्ना का बौद्धिक। दोनों की नींव अन्त में जाकर मानववाद पर टिकती है, परन्तु मानववाद के स्वरूपों में अन्तर है। प्रसाद का मानववाद शुद्ध 'प्राकृतिक' मानववाद है, पंत का मानववाद 'विकसित' मानववाद है अर्थात् प्रसाद अतीत के कवि थे—वे आदर्श की खोज के लिए दूर अतीत में जाते थे, जब मानव-जीवन पूर्ण प्राकृतिक अतएव शुद्ध था—इसमें प्रकृति की ओर प्रतिवर्तन है; पंत भविष्य के कवि हैं वे आदर्श की खोज में विदेश की मानववादी चिन्ताधारा से प्रभावित होकर भविष्य

की सृष्टि करते हैं, जब मानव, शासन और संयम के द्वारा आदर्श सामाजिक जीवन का उपभोग करेगा। कामना में अध्यात्म (धार्मिक अर्थ में नहीं) तत्व की प्रमुखता है, ज्योत्स्ना में समाज-शास्त्र की। शैली की दृष्टि से ज्योत्स्ना का तानाबाना वायवी है, कामना में घटनाएँ प्रतीक होती हुई भी मूर्त हैं, उसके पात्रों में व्यक्तित्व का सर्वथा अभाव नहीं है। स्वभावतः मन को रमाने की शक्ति कामना मे अपेक्षाकृत अधिक है—उसमें रसीला गीति-तत्व है। ज्योत्स्ना का गीति तत्व अत्यन्त सूक्ष्म एवं विशद है, परन्तु वह रसीला न होकर बौद्धिक है। विचारों की दृष्टि से ज्योत्स्ना प्रौढ़तर कृति है।

छलना में रूपक तत्व अधिक प्रच्छन्न है, वह रोचक कहानी के रूप में भी आसानी से पढ़ी जा सकती है। वह हमारे नित्य-प्रति के मांसल जीवन की भावमयी गाथा है। उसमें नारी के मन का वैज्ञानिक विवेचन है—और यह विवेचन सहानुभूतिपूर्ण होते हुए भी आदर्शमय नहीं है। उसमें किसी प्रकार का सिद्धांत विधान नहीं है। लेखक नारी के मन की समस्या को खोलकर सामने रख देता है—वह उसका समाधान भी नहीं करता, आदर्शीकरण तो दूर रहा—और इस दृष्टि से यह रूपक परिभाषिक दृष्टि से अधिक पूर्ण न होते हुए भी कम से कम रस की दृष्टि से अधिक स्वस्थ है। छलना यूटोपीया नहीं—मनोवैज्ञानिक अध्ययन है। 'नवरस' शास्त्रीय और बहुत अंशों में पारिभाषिक रूपक है। अब तक यह नियम तो नहीं, परन्तु रूढ़ि अवश्य रही है कि रूपक में नैतिक सिद्धान्तों का ही विधान हो। नवरस में युद्ध की समस्या का नैतिक विवेचन और समाधान है। इसके अतिरिक्त उसकी शैली भी शुद्ध रूप में शास्त्रीय है—रस शास्त्र के तत्वों का मानवीकरण कर उनके सहारे कथा चलाई गई है। नाटक की आत्मा नैतिक और शैली शास्त्रीय होने के कारण

स्वभावतः उसमें स्थूलता अधिक है—परन्तु उसकी व्यवस्था में स्वच्छता भी अपेक्षाकृत अधिक है।

रूपक में वातावरण एक विशेष महत्व रखता है। सूक्ष्म शरीर-धारी इन स्त्री पुरुषों का अतीन्द्रिय कर्मलोक स्वभाव से ही मनोरञ्जक होना चाहिए। कामना में मानव संस्कृति के उषःकाल की कथा है—अतएव उसके वातावरण में प्रभात के स्वर्ण-माणिक रंग हैं, और उसकी पार्श्वभूमि प्रकृति का उन्मुक्त अञ्चल है। ज्योत्स्ना में स्वप्न और कल्पना के सहारे सौंदर्य के नवीन स्वर्ग की अवतारणा है, इसलिए उसके वातावरण में रात की चाँदनी और चाँदी बिखरी पड़ी है। कामना के चित्रों में जागृति की ताजगी है, ज्योत्स्ना के चित्रों में स्वप्न का आलस्य। वैसे तो इन दोनों रूपकों का ही अतीन्द्रिय लोक मोहक है, फिर भी ज्योत्स्ना का संसार कहीं अधिक दीपित और रमणीय है। छलना का क्रीड़ा-लोक भौतिक जगत ही है, उसमे आज के नगरों का कृत्रिम वातावरण है जिसमें इक्के ताँगों की खड़खड़ाहट सुनाई पड़ती है। रूपकों को पढ़ते समय प्रायः पाठक ऐसा अनुभव करता है जैसे वह सपना देख रहा हो—जो कुछ सामने हो रहा है वह प्रत्यक्ष होते हुए भी प्रत्यक्ष नहीं है। पर छलना स्वप्न का वातावरण उपस्थित नहीं करती। नवरस इस दृष्टि से बहुत फीका है, उसके वातावरण में न तो रसों की रमणीयता ही है और न युद्ध का ही घिराव है। 'उन्मुक्त' के चित्रों मे युद्ध के बादल सामने घुमड़ते है—उसके वातावरण में घोषपूर्ण अन्धकार है। परन्तु नवरस में यह नहीं है, उसके चित्र न रंग-भास्वर है और न सजीव।

रूपक में प्रायः सिद्धान्त और कवित्व का विरोध हो जाता है। यदि लेखक का बुद्धि-पक्ष प्रबल है, तो सिद्धान्त कविता को दबा लेगा, और वह सिद्धान्त की अनुवर्तिनी होकर निर्जीव हो जाएगी—प्रबोध चन्द्रोदय, मोरेलिटी प्लेज—इसके उदाहरण है।

इसके विपरीत यदि कविता सिद्धान्त पर हावी हो जाएगी, तो रूपक में स्थान-स्थान पर रम्य असंगतियाँ मिलेंगी—उसके मूर्त और अमूर्त विधान में पूर्ण सहयोग न हो सकेगा—कामायनी और फेयरीक्वीन दोनों में यही बात है। ज्योत्स्ना में इन दोनों तत्वों (कविता और सिद्धान्त) का ही प्राचुर्य्य है, परन्तु वे दोनों सहज आलिंगन में बँध कर एक नहीं हो पाए हैं, उनका अस्तित्व पृथक्-पृथक् है—उसके वायवी वातावरण में कविता की रङ्ग बिरङ्गी तितलियाँ, और सिद्धान्तों का कुहासा अलग अलग उड़ते दिखाई देते हैं। रूपक वास्तव में तभी पूर्ण होता है जब सिद्धान्त और कविता का जीवन की आधार भूमि पर सहज समन्वय हो जाये—तभी उसमें जीवन का रस आता है। परन्तु यह कार्य अत्यन्त दुष्कर है, क्योंकि सिद्धान्त-विधान जिस प्रकार पूर्व-निधारित क्रम की अपेक्षा करता है, स्वस्थ साहित्य-सृष्टि उसी प्रकार अर्धचेतन मस्तिष्क की क्रिया है, फिर वे दोनों विरोधी गुण एकत्र कैसे हों ? इसीलिये संसार में ऐसे रूपक अत्यन्त ही विरल हैं जो शास्त्रीय दृष्टि से भी पूर्ण हों और कविता की दृष्टि से भी। कामायनी, पद्मावत और फेअरी-क्वीन भी इस पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकीं।

हिन्दी में इस प्रकार चार नाट्य-रूपक हैं। देवमायाप्रपञ्च दुष्प्राप्य है। बनारसीदास का प्रबोध-चन्द्रोदय अनुवाद है। वास्तव में रूपक का स्वरूप सैद्धान्तिक होने के कारण, बीच में साहित्यिकों की उस पर से आस्था-सी उठ गई थी पर आज फिर काव्य का आदर्श बदल गया है, आज फिर जीवन जीवन से थककर सिद्धान्त की बात अधिक सोचने लगा है। पहला कवि मनीषी था, मध्ययुग का नीतिकार, और आज का समाज-शास्त्रज्ञ, इसलिये कोई आश्चर्य नहीं यदि रूपक में फिर से शक्ति आजाय।

हिन्दी में गीति-नाट्य

—उदयशङ्कर भट्ट

(१)

गीति-नाट्य से साधारणतः तात्पर्य है, पद्य-बद्ध नाटक का। परन्तु गीति-नाट्य के लिये यही पर्याप्त नहीं है कि उसका माध्यम गद्य न हो कर केवल पद्य हो। उसके लिये भावमयता अनिवार्य है। गीति-तत्व में भावना की प्रमुखता है। इसीलिये गीति-नाट्य में कार्य की अपेक्षा भाव का महत्व अधिक है। वास्तव में जिस रूप में कार्य की आशा हम नाटक या दृश्य काव्य में करते हैं, उस रूप में कार्य का यहाँ अभाव ही मिलेगा। इस के अतिरिक्त भावना का प्राधान्य होने के कारण गीति-नाट्य में संघर्ष स्वभावतः वाह्य न होकर आन्तरिक होता है—अर्थात् मन की एक भावना का दूसरी भावना के विरुद्ध संघर्ष ही यहाँ मिलेगा। वाह्य-परिस्थितियों का संघर्ष यदि होगा भी तो उसका प्रयोग आन्तरिक संघर्ष को तीव्रतर बनाने के लिये ही होगा। इस प्रकार गीति-नाट्य एक ओर तो साधारण दृश्य-काव्य से भिन्न है, दूसरी ओर नाट्य-कविता (Dramatic poem) से भी उसका स्वरूप भिन्न है। नाट्य कविता में नाट्य-तत्व अर्थात् प्रदर्शन या अभिनेयता होती अवश्य है, परन्तु उसका आस्वादन पढ़ कर ही होता है, अभिनय या प्रदर्शन द्वारा नहीं—यानी वह पाठ्य

ही है—अभिनेय नहीं। गीति-नाट्य में नाट्य तत्व मुख्य होता है,
नाट्य-कविता में गौण। संक्षेप में गीति-नाट्य रूपक का ही एक
भेद है जिसका प्राणतत्व है भावना—अथवा मन का संघर्ष और
माध्यम है कविता।

मूल रूप में चाहे गीति-नाट्य कितना ही प्राचीन हो, परन्तु
वर्तमान रूप में उसका इतिहास बहुत पुराना नहीं है। संस्कृत के
नाटकों में पद्य का महत्व होते हुये भी, उनमे कदाचित एक भी
ऐसा नहीं है जो एकान्त पद्यमय हो—साथ ही गीति तत्व की
प्रचुरता भी चाहे विक्रमोर्वशीय और कर्पूरमञ्जरी जैसे नाटकों में
मिल जाये परन्तु सर्वाङ्ग गीतिमयता एक भी नाटक में नहीं
मिलेगी। अंगरेजी में गीति-नाट्य काफ़ी मिलते हैं। वहाँ भी
यद्यपि शेक्सपियर, मार्लो आदि के एकाध नाटक में, आरम्भ से
अन्त तक पद्य का ही प्रयोग हुआ है। परन्तु गीति नाट्य नाम
(Lyrical Drama) वास्तव में शैली, ब्राउनिंग, स्विनबर्न
आदि के भावना-प्रधान नाटकों को ही दिया गया है। बँगला में
गीति नाट्य विशेष समृद्ध है—रवीन्द्र की चित्रा और द्विजेन्द्र-
लालराय की सीता अद्भुत् गीति नाट्य हैं। हिन्दी का नाटक-
साहित्य उसका सब से दुर्बल अङ्ग है। उसके चन्द्रावली जैसे
नाटकों में गीति-तत्व प्रचुर परिणाम में अवश्य मिलता है, परन्तु
कदाचित् पहिला गीति-नाट्य प्रसाद का 'करुणालय' ही है।

'करुणालय' वैदिक काल को विशृंखल कम भावना पर एक
करुण व्यंग्य है। यह प्रसाद जी की अत्यन्त प्रारम्भिक रचनाओं
में से है। अतः न कवित्व की ही दृष्टि से और न नाट्य की ही
दृष्टि से यह रचना सफल कही जा सकती है। कथानक इसका
कुछ बेतुका सा है। राजा हरिश्चन्द्र नौका विहार कर रहे हैं—
अचानक नौका स्तब्ध हो जाती है और नैपथ्य से गर्जन के
साथ शब्द होता है—

....

मिथ्याभाषी यह राजा पाखण्ड है
इसने सुतबलि देना निश्चित् किया—
राजकुमार हुआ है अब बलि योग्य जब
तो फिर क्यों उसकी बलि यह देता नहीं?

राजा को अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण है। वह कहता है—

"पिता को सन्तान पर कितनी ममता होती है—मैं तो जन्म दाता हूँ फिर भी अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करूँगा ही—देवगण सन्तुष्ट हों।"

बस वह निश्चय करता है कि रोहित की बलि दी जायगी—रोहित मृत्यु के लिये तैयार नहीं होता–पिता परम गुरु है—परन्तु निरर्थक मरने की आज्ञा कैसे पालन की जाय। अब वह तरुण है—जीवन के सुख-दुःख की उसे पहचान है—अपने अस्तित्व पर उसे ममत्व है—संसार की मोहिनी पर वह मुग्ध है—

अहा स्वच्छ नभ नील, अरुण रवि-रश्मि की
सुन्दर माला पहन, मनोहर रूप में,
नव प्रभात का दृश्य सुखद है सामने,
उसे बदलता नील तमिस्रा रात्रि से
जिसमें तारा का भी कुछ न प्रकाश है
कैसा दुखदायक है ?..............

बस वह निश्चय करता है कि अब देश-विदेश में स्वतन्त्र हो पर्यटन करेगा—

मृगया से आहार, जीव सहचर सभी
नव किसलय दल सेज सजी सब स्थान में,
कहो रही क्या कमी सहायक चाप है।

नेपथ्य से कोई शक्ति उसे उत्साहित करती है—

....

धूलि नहीं यह पैरों में है लग रही
समझो यही विभूति लपटती है तुम्हें।

तीसरे दृश्य में अजीगर्त और तारिणी क्षुधा से पीड़ित अधीर हो रहे हैं—इतने ही में रोहित वहाँ पहुँचता है—अजीगर्त बड़े जोरदार शब्दों में अपनी कहानी उसे सुनाता है—

जीवन की आकुल आशा जब त्रस्त हो
एक-एक दाने का आश्रय खोजती।
वह बीभत्स पिशाच खा लिया चाहता
जब अपना ही माँस।..............."

रोहित उससे पुत्र बेचने का प्रस्ताव करता है। अजीगर्त तैयार हो जाता है और अपने मध्यम पुत्र शुनःशेफ का विक्रय सौ गायों के बदले कर देता है। यहाँ तारिणी का मुँह ढाँप कर भीतर चला जाना भावुकता की दृष्टि से बड़ा सुन्दर प्रयोग है। निदान रोहित शुनःशेफ के साथ चल देता है और पिता के दरबार में पहुँचता है। पिता उसे धिक्कारते हैं और राज्य का उत्तराधिकार न देने की धमकी देते हैं, जिस पर रोहित अपनी सफाई देता हुआ कहता है कि यदि मैं बलि हो जाता-तो राज्य कौन पाता ? इसके अतिरिक्त मैंने अपने ही लिए नहीं; आपके कारण भी, मृत्यु को अङ्गीकार नहीं किया, क्योंकि—

पुत्र न रहता, तो क्या होता कौन फिर
देता पिण्ड तिलोदक यह भी समझिये।

यह तर्क बहुत साधारण और शक्ति हीन है। खैर, वशिष्ठ के आ जाने से यज्ञ का कार्यक्रम निश्चित होता है। अन्तिम दृश्य में शक्ति (वशिष्ठ के पुत्र) के विफल होने पर अजीगर्त का स्वयं ही सौ गायों के बदले पुत्र-बध करने के लिये प्रस्तुत हो जाना एक भयङ्कर, साथ ही सशक्त घटना है—यहाँ पर कथा में तीव्रता आ जाती है, और उसमें एक साथ प्राण आ जाते हैं

परन्तु बाद में विश्वामित्र का आना और फिर एक साथ सुव्रता द्वारा इस रहस्य का उद्‍घाटन कि शुनःशेफ वास्तव में उसका और विश्वामित्र का पुत्र है, अंजीगर्त का नहीं—कथा की तीव्रता को फिर से कुण्ठित कर देता है; और बाद में जो कुछ होता है वह बड़ा नीरस और निर्जीव है। इस प्रकार इस नाटक में गीति-नाट्य के प्राण-तत्व—मानसिक संघर्ष-का बड़ा दुर्बल प्रयोग है। हरिश्चन्द्र की कर्तव्य भावना और पुत्र-प्रेम के बीच संघर्ष बड़ा शिथिल है—करीब-करीब नहीं के बराबर है, हाँ रोहित की जीवन-लालसा और पिता के प्रति कर्तव्य के बीच जो संघर्ष हुआ है, उसमें कुछ दम है—उसमें विद्रोह की शक्ति है। परन्तु बाद में शुनःशेफ को मोल लेकर पिता को सौंपने में यह शक्ति नष्ट हो जाती है। उधर शुनःशेफ की जन्म कथा का रहस्य अजीगर्त के संघर्ष-बल को बुरी तरह क्षीण कर देता है।

शास्त्रीय दृष्टि से प्रभाव-ऐक्य ढूंढ़ भी निकाला जाए, परन्तु वह बड़ा क्षीण है। फिर भी यह नाटक कवित्व से शून्य नहीं है। पहले दृश्य में मनोरम प्रकृति-सौन्दर्य की कोमल अभिव्यञ्जना मिलती है। उधर रोहित की भावनाओं में शक्ति और कोमलता का सुन्दर समन्वय है। क्षुधा-पीड़ित अजीगर्त की उक्तियाँ भी बड़ी मार्मिक हैं। भाषा मँजी हुई शुद्ध है—छन्द की गति में सर्वत्र ही मन्थरता है। एक शब्द में इस गीति-नाट्य में प्रसाद के प्रसादत्व की एक झलक भर ही है।

दूसरा नाटक है गुप्तजी का 'अनघ'। वह वास्तव में कविता-बद्ध नाटक होने पर भी तात्विक दृष्टि से गीति-नाट्य की श्रेणी में नहीं आता। इसमें गीति-तत्व बहुत ही क्षीण है। सुरभि, मघ की माता, एक स्थान पर वानी—इन तीनों के अस्तित्व से नाटक में गीतिमयता आयी अवश्य है, परन्तु अनघ में प्रारम्भ से अन्त तक जिस क्रियाशीलता की प्रमुखता है वह गीति तत्व

को अवकाश नहीं देती। इसीलिए उसमें बाह्य अर्थात् भौतिक परिस्थितियों का संघर्ष है, आन्तरिक नहीं। 'अनघ' वास्तव में एक सैद्धान्तिक नाटक है, उसमें युगधर्म के प्रतीक की सृजना ही मुख्य है। मघ निश्चित ही गान्धी-नीति का प्रतीक है। उसकी घटनाएँ आधुनिक और बहुत प्रत्यक्ष है, इस कारण उनमें स्थान-स्थान पर कवित्व क्षीण हो गया है। वस्तु की एकता 'अनघ' मे मोटे रूप से पायी ही जाती है। घटनाएँ यन्त्र-प्रेरित-सी अन्त में मुख्य कार्य में पर्यवसित हो जाती हैं। अन्तिम दृश्य बड़ा सबल है, यद्यपि उसमें पर्यवसान के लिए जिस कौशल का प्रयोग किया गया है, वह बड़ा घटिया है—मेरा तात्पर्य सुमुख की साक्षी से है जो सिर खुजलाता हुआ कहता है कि—

देवि! क्षमा हो भूल गया जो याद किया था।

वास्तव मे 'अनघ' की विशेषता मघ का चरित्र-गौरव ही है। उसमें गीति-तत्व और नाट्य-तत्व दोनों की परिक्षीणता है। शैली और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से अनघ में यशोधरा का पूर्व-संकेत स्पष्ट है।

प्रेमी के 'स्वर्ण-विहान' की मूल-भावना अनघ से भिन्न नहीं है। उसमें भी अहिंसा के द्वारा हिंसा को जीतने की बात है। इस नाटक में एक कल्पित कथा के द्वारा पिछले युग की प्रबुद्ध भारतीय चेतना की अभिव्यक्ति है—किस प्रकार भारत का प्रसुप्त यौवन चोट खाए सर्प की भाँति फुफकार उठा और गाँधी की अमृतवाणी ने उसे शान्त कर अहिंसा का पाठ पढ़ाया—

नहीं नहीं ऐ पगले यौवन,
जीत प्रेम से पापाचार।
अरे पाप से पाप मिटाना
बड़ा भूल है, व्यर्थ विचार।

× × ×

विषय में नहीं कही जा सकती। रङ्ग-संकेतों की न्यूनता होते हुए भी उसमें वाञ्छित नाट्य-तत्व वर्तमान है। वासना और धर्म-भावना का तुमुल सङ्घर्ष इसका प्राण है।

ऋषि-पत्नी तारा का अतृप्त यौवन एक साथ विद्रोह कर उठता है—वह उसे तुरन्त ही ताड़ जाती है और मन को संयत करने का प्रयत्न करती है—

भ्रम है, भ्रम है निपट पाप की प्रेरणा,
है कर्तव्य प्रधान और आराधना।

परन्तु यह समाधान ही तुरन्त उत्तर बन जाता है और वह सोचती है कि आराधना किसकी?

मनोभाव की और प्रकृति के नियम की?
या स्वामी के पूज्य चरण-रज की?

मस्तिष्क उत्तर देता है—"वे मेरे पति", परन्तु मन इस सम्बन्ध को अस्वीकार करता है। उसको तो चाह है रस की। बृहस्पति तो उसकी पूजा के पात्र हैं, प्रेम के नहीं। बस उसके मन से आह निकल पड़ती है—

उफ असह्य है इस विरोध की भावना।

बृहस्पति सुन कर चकित हो जाते है और संसार की असारता एवं वासना की पाप-मूलक प्रवृत्ति का व्याख्यान कर उसकी मनोवृत्तियों को समाहित करने का प्रयत्न करते हैं। शान्ति के लिए अधीर तारा इधर क्षणभर बृहस्पति का अवलम्ब ग्रहण करती है, उधर बृहस्पति सुधा के स्रोत में मादकता की धार देख कर सहसा विचलित हो उठते हैं। क्या वास्तव में—

पुण्य शुष्क है, रसमय केवल पाप है।

दूसरे दृश्य में चन्द्रमा को पढ़ाते समय भी यही प्रश्न छिड़ता है कि पाप-पुण्य क्या है? वासना क्या है? बृहस्पति अपने तर्कों द्वारा वासना का तिरस्कार करते हैं, परन्तु उनके मुख से एक

वाक्य ऐसा निकल जाता है जो चन्द्रमा के चञ्चल मन में उलझ जाता है—

प्रकृति स्वयं है पाप-पुण्य कुछ भी नहीं।

इतने ही में तारा उमड़ते हुए तूफान के लिए प्रवेश करती है। और संसार को मदोन्मत्त देख कर काम-विह्वल हो जाती है तभी उसकी दृष्टि चन्द्रमा पर पड़ती है और उभरती वासना हृदय से टकराकर फूट निकलने का प्रयत्न करने लगती है। परन्तु धर्म इस पर-पुरुष की भावना का विरोध करता है और तारा निश्चित करती है—

पाप-वृत्ति तुम विजय पा सकोगी नहीं।

चन्द्रमा गुरुपत्नी को माता कह कर प्रणाम करता है। माता सम्बोधन उसकी (तारा की) वासना पर थपेड़ा देता है और वह मन की समस्त सद्भावना एकत्रित कर उसको दबाती है उसी समय वृहस्पति आश्रम-सेवा का भार चन्द्रमा को सौंप कर बाहर जाने का निश्चय करते हैं। तारा और वृहस्पति का प्रस्थान—चन्द्रमा वहीं रह जाता है, उसकी दृष्टि में तारा का अकलुष सौन्दर्य गड़ जाता है।

तीसरे दृश्य में हम देखते हैं कि तारा और चन्द्रमा के हृदयों के तूफान अनायास ही एक दूसरे से टकराने को प्रस्तुत हैं। एक ओर तारा विवश होकर कहती है—

सोचूं समझूं ? नहीं, यही सम्भव नहीं!

—दूसरी ओर चन्द्रमा प्रेम की पाप-पुण्यता पर विचार करता है:—

पतन ! प्रेम क्या तुम यथार्थ ही पतन हो,
... निश्चय के निर्णय का आधार क्या ?
... वासना क्या तुम निश्चय पाप हो ?
... कुछ नहीं तुम तो केवल प्रकृति हो !

झट उसे बृहस्पति का वाक्य याद आ जाता है—

प्रकृति स्वयं है प.प पुण्य कुछ भी नहीं।

सामने ही तारा दिखाई देती है। प्रवाह दुस्तर है। दोनों ही वेग में बहने लगते हैं। चन्द्रमा प्रस्ताव करता है—

तुम हो झंझावात भयानक क्रांति का,
मैं अशांत का उदधि गहन गम्भीर हूँ,
आओ मिलकर आज विश्व को उलट दें,

तारा की उद्दाम वासना का एक बार फिर धर्म-भावना से (जो अब की बार धर्म-भीरुता मात्र रह गई है) घर्षण होता है, और उसका मन कातर हो जाता है—

हाथ जोड़ती हूँ, इस दुर्बल हृदय को
दिखलाओ सन्मार्ग तुम्हारा धर्म है।

चन्द्रमा यहाँ पुरुषत्व से काम लेता है और तर्क की छाया का सहारा लेकर तारा की धर्म भीरुता पर विजय प्राप्त कर लेता है। बस तारा आत्म-विस्मृत बह जाती है। चौथे दृश्य में बृहस्पति कुटीर की शून्यता को देख कर रहस्य को ताड़ जाते हैं, और तारा तथा चन्द्रमा को शाप देकर अपना क्रोध शान्त करते हैं।

तारा एक सफल गीति-नाट्य है। यद्यपि उसमें रंग संकेतों की कमी है, परन्तु मन के संघर्ष का विवेचन उसमें बड़ा सबल और मनोवैज्ञानिक है। भावना में नाटकोपयुक्त उत्थान-पतन है। वस्तु के विधान में एकता है, गठन है—

प्रकृति स्वयं है, पाप पुण्य कुछ भी नहीं

वाक्य बड़े कला-पूर्ण ढङ्ग से वस्तु की गति-विधि को सञ्चालित करता है। नाटक में वासना की रंगीनी और शक्ति दोनों के सुन्दर चित्र हैं। दूसरे दृश्य में तारा का स्वगत और तीसरे में चन्द्रमा की उक्ति मेरे कथन को पुष्ट करेंगे। हाँ, बृहस्पति का तर्क कहीं

कहीं उलझ गया है। अन्त में ऋषि के अमर्ष में कितनी करुण व्यथा है। उनका अभिशाप युग की प्रवृत्ति के अनुसार वैज्ञानिक तो है, पर उसका कोई विशेष लाभ हमारी समझ में नहीं आता—उससे नाहक ही जीवित तारा और चन्द्रमा जड़ बन जाते हैं।

इधर पं० उदयशङ्कर भट्ट के तीन गीति-नाट्य प्रकाशित हुए हैं—'मत्स्यगंधा', 'विश्वामित्र' और 'राधा'। मत्स्यगंधा और विश्वामित्र दोनों की कथावस्तु में साम्य है—यद्यपि दोनों के मूल में एक ही संघर्ष नहीं है। यौवन की दुरभि आकांक्षा—समस्त संसार को अपने में समा लेने की उत्कट अभिलाषा—का नर्तन 'मत्स्यगंधा' की प्रेरक भावना है। धीवर-कन्या मत्स्यगंधा यौवन के प्रथम स्पर्श से एक साथ चञ्चल हो उठती है, उसके मन में एक हूक उठती है—मन अनायास ही प्रकृति के विलास को देख कर मचल-मचल उठता है—

कौन उठता है कौन सोता मेरे, पास छिप
जान सकना कठिन ! किन्तु देखती यही कि कोई
राग-सा बजाने मेरे प्राणों की वीन पर
चल-चल आता है।

उसकी भोली भाली सखी सुभ्रू इस जिज्ञासा का समाधान करने का विफल प्रयत्न करती है, परन्तु मत्स्यगंधा की इच्छा की सीमाएँ बिखरती ही चली जाती हैं। उसे अपनी परिस्थिति का ध्यान आता है—

नाविका हूँ, केवट की बेटी।

किन्तु शीघ्र ही उसकी अकांक्षा इसे दबा देती है—

...नहीं लहर-सी मुक्त हूँ मैं !

अनङ्ग का प्रवेश ठीक समय पर ही होता है (मनोविज्ञान की दृष्टि से मत्स्यगंधा का मनोविकार ही यहाँ मूर्तिमान होकर सामने आता है)। अनङ्ग भी अपना परिचय इन्हीं शब्दों में देता है—

'यौवन में तृप्ति-हीन तृष्णा।

× ×

सैकड़ों वसन्त हास !

शत-शत उद्‌गार। शत-शत हाहाकार !—

अनङ्ग उसको चिर-यौवन का वरदान देना चाहता है (यहाँ भी उसकी अभिलाषा ही मानो मूर्ति-मंत हो उठती है)। परन्तु मत्स्यगन्धा को फिर अपनी परिस्थिति का ज्ञान हो आता है—

मैं एक दरिद्र केवट की बेटी हूँ उपाय हीन

एक उल्कापात-सी निरर्थ धराधाम पर !

अतः वह कातर होकर अनंग के वरदान को अस्वीकृत कर देती है। परन्तु वास्तव में यह दबाव उसकी यौवन लालसा को और उभार देता है और उसके मन का तूफ़ान घुमड़ने लगता है—

घूमता-सा देखती अलात-चक्र ऐसा जग !

दूसरे दृश्य में वृद्ध पाराशर आकर केवट-कन्या से नाव मांगते हैं। वह अपनी हीनता का ध्यान कर कुछ हिचकिचाती है, उधर नदी में तूफ़ान भी है परन्तु पाराशर हठपूर्वक उसको चलने के लिए प्रस्तुत कर लेते हैं। नाव में बैठे पाराशर का मन मचल जाता है और वे मत्स्यगंधा से रति का प्रस्ताव करते हैं। वह जब समाज और नीति की बाधा प्रस्तुत करती है तो पाराशर का कामार्त मन धर्म की अनन्तरूपता एवं नीति की परिवर्तनशीलता का व्याख्यान करने लगता है। उधर नारी की विषम परिस्थिति का ध्यान आते ही मत्स्यगंधा की दबी हुई अभिलाषा तड़प उठती है—

नारी के स्वरूप मुख-शोभा में छिपे हैं देव,

संख्या-हीन अभिशाप, संख्या हीन यातना।

..................नारी एक श्वेत पट सम,
जिसपै तनिक विन्दु-पात भी कलंक है ।।

परन्तु जब पाराशर प्रकृति की स्वच्छन्दता का विवेचन बड़े प्रभावशाली शब्दों मे करते हैं, तो समाज और कन्यकात्व के बन्धनों को तोड़ता हुआ मत्स्यगंधा का यौवन-काम उमड़ उठता है और वह पाराशर से अनन्त यौवन का वरदान माँग लेती है। यहाँ एक बार फिर संघर्ष होता है—पाराशर उसे समझाते हैं—

.........किन्तु नारी प्रिय भी,
सदा न प्रिय लगता है ।

किन्तु मत्स्यगन्धा अब की बार उनकी बात नहीं मानती। बस पाराशर के एवमस्तु कहते ही वह भी उनके प्रस्ताव पर एवमस्तु कह देती है। यह दृश्य नाट्य की दृष्टि से बड़ा प्रबल है। मन की हलचल बढ़ते बढ़ते एक साथ स्तब्ध हो जाती है—बस मानो उसी के फलस्वरूप एक दम अन्धकार छा जाता है और उस अँधेरे में आवाज़ आती है—

(एक आवाज़)—नाथ यह कन्यकात्व,
(दूसरी आवाज़)—वह भी कलङ्क हीन,
(पहली आवाज़)—नाथ वह इष्ट मुझे ।
(दूसरी आवाज़)—एवमस्तु एवमस्तु ।
(पहली आवाज़)—एवमस्तु प्रियतम ।

आदि आदि। ये सब आवाज़ें मत्स्यगन्धा के आलोड़ित हृदय के ही विरोधी चीत्कार हैं। यहाँ दृश्य की सघनता (Tensity) एक दम चरम सीमा पर पहुँच जाती है। चौथे दृश्य में निगति है। मत्स्यगन्धा अपने नवीन परिवर्तन पर विषाद-संकुल दृष्टि डाल रही है। अन्त में पतन है ही—अनन्त यौवना

मत्स्यगन्धा विधवा सत्यवती के रूप में प्रासाद पर खड़ी हुई है। उसका अनन्त यौवन आज अपने भीतर ही खौल कर उसे विह्वल कर रहा है—

घूमता शरीर यन्त्र, घूमते नगर धाम,
घूमता है नील नभ जगत अलात-सा।

और वह कातर होकर सोचती है—

अरे कब अन्त होगा मद का प्रमाद का भी।

इतने ही में उसकी जलन पर नमक छिड़कने के लिये अनंग का दर्शन होता है। वह उससे मनुहार करती है—

ले लो, लो दिया जो लेलो, अविलम्ब है अनङ्ग।
दण्ड लघु कार्य का अमेय है, महान है।

परन्तु अनङ्ग केवल यही कह कर चल देता है—

पियो कण्ठ तक पियो ओठ तक ढाल ढाल,
यौवन महान है, अलभ्य है जगत में।

इस प्रकार यह गीति-नाट्य योवन की—दुर्दाम लालसा का प्रकृति एवं समाज के बन्धनों से संघर्ष दिखाता हुआ, अन्त में उसकी पराजय का दिग्दर्शन कराता है। 'मत्स्यगन्धा' अत्यन्त उच्च कोटि का गीति-नाट्य है। उसकी गति में काफी वेग है और परिणति का दृश्य तो नाट्य की दृष्टि से अद्भुत है।

'विश्वामित्र' की कथावस्तु प्रतीकात्मक है। कवि के अपने शब्दों में, विश्वामित्र पुरुष है, मेनका नारी और उर्वशी उन दोनों का संघर्ष है। विश्वामित्र अहङ्कार है, बल है, शक्ति का प्रतीक है, अभिमान है और है नर। मेनका प्रेम है, कोमलता है, भाव-प्रवलता है, नम्रता है, स्फूर्ति है, जीवन है और है नारी।" नर-नारी का संघर्ष जो अनादि काल से चला आया है वही इस भाव-नाट्य का आधार है। विश्वामित्र नाटक का आरम्भ बड़ा

ओजपूर्ण है। विश्वामित्र के शब्दों द्वारा उनका अम्बर-चुम्बी अहङ्कार मूर्तिमान होकर सामने खड़ा हो जाता है। क्षणभर नेत्र खोल कर वे फिर विश्व पर सतत अधिकार करने की भावना से समाधि ले लेते हैं। उर्वशी और मेनका सहसा वहाँ प्रकट होती हैं। उर्वशी के हृदय में नारी का माधुर्य है, पर कटुता भी है, उधर मेनका में एकरस माधुर्य-भावना ही है। विश्वामित्र को देख कर उनके लक्ष्य का विचार कर मेनका का तो नारीत्व चञ्चल हो उठता है, उधर उर्वशी के हृदय की कटुता उभर आती है और नर की दूसरों पर शासन करने की भावना का ध्यान उसकी प्रतिस्पर्धा को एक साथ जागृत कर देता है—

जब नारी नर दोनों ही से सृष्टि है,
एक बड़ा छोटा हो क्योंकर दूसरा।

मेनका उसका समाधान करती है—

यद्यपि हम में नहीं भुजा का बुद्धि का,
बल, तो भी तो एक हृदय-बल पास है।
यदि चाहूँ तो अभी तपस्वी को उठा,
नाच नचाऊँ जब पुतली कर काम की।

उर्वशी जिसके हृदयमें प्रतिहिंसा के कारण पराजय-भावना भी है, मेनका की दर्पोक्ति पर विश्वास नहींकरती। परन्तु मेनका असली तत्व को प्राप्त कर चुकी है। वह पुरुष के अहं की शक्ति और दौर्बल्य दोनों को जानती है। वह नर और नारी की असलियत से परिचित है। इस स्थल पर कवि ने नारीत्व के दोनों पहलुओं की अद्‌भुत व्याख्या की है। एक ओर चिर-शासिता नारी उर्वशी के शब्दों में अपनी परिस्थिति की करुणा को व्यक्त करती है, दूसरी ओर मेनका के शब्दों में मानों उसके सच्चे महत्व का व्याख्यान है। यह वैषम्य बड़ा सुन्दर है—

उर्वशी— नारी प्राण-विहीन चेतना से रहित,
एक भावना पुञ्ज पराई आस है।
जो साधन है जग में मानव-सौख्य की,
सुख हीना है स्वयं, अपर का सुख सदा।
वह विलास स्वच्छन्द पुरुष के प्राण की,
मदिरा जिसको स्वयं नशा होता नहीं।

मेनका— वह सत्ता है, कोमल जग के तत्व की,
और कल्पना सहज विधाता हृदय की
मानव के नैराश्य पुञ्ज में रूप की,
ज्योति-शिखा है नारी नर की चाहना।
यदि इस जग में न रहे बुद्धि विवेक तो,
नारी कोमल हृदय-तन्तु की स्फुरणा।

उर्वशी मेनका को प्रेरित करती है। मेनका को पुरुष से घृणा नहीं है, परन्तु फिर भी वह विश्वामित्र को पराजित करने केलिये प्रयत्नवान होती है। उसकी इच्छा के साथ ही बसन्त का (जो कि नारी की एक मूर्त कामना ही है) आविर्भाव होता है, और समस्त प्रकृति अपने यौवन मद में झूमने लगती है। उधर वह अनङ्ग का (जो नारी का भृकुटि-कटाक्ष ही है) आह्वान करती है। विश्वामित्र की समाधि टूटती है और उनकी आँखों से पहले विस्मय, फिर क्रोध फिर जड़ीभूत चेतना, फिर आह्लाद और प्रेम का नशा-सा झलकने लगता है। अनायास ही उनकी दृष्टि मेनका पर पड़ती है और वे उसको देख कर तुरन्त ही बेसुध हो जाते हैं। यहाँ नाटक में काफी दुर्बलता आ गई है। नर और नारी के संघर्ष का चित्रण करने का यही अवसर था, पर कवि ने उसे न जाने क्यों बिलकुल छोड़ दिया है। शायद वह स्वयं नारी की गरिमा से इतना अभिभूत है कि उसको इस बात की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत हुई। वास्तव में परिणति में

संघर्ष का यह अभाव नाटक और मनोविज्ञान दोनों की दृष्टि से अक्षम्य दोष है। खैर, मेनका विश्वामित्र की मनुहारों की उपेक्षा कर देती है। उधर विश्वामित्र के हृदय में नारी के स्पर्श से कोमलता का सञ्चार होने लगता है—और वह अपनी भूल मान लेते हैं—

तापस, नीरस जीवन की लघु प्रेरणा,
जिसमें ईश्वर नहीं अहं का वास है,
स्वयं ब्रह्म होने की मीठी कामना।

वास्तव में धर्म-प्रसूत कठोरता का यह चिर-सत्य व्याख्यान है। इसी अहं के कारण ही तपस्या मनुष्य को मृदुल न बनाकर कठोर बना देती है। अब विश्वामित्र को अनुभव होता है कि आनन्द तत्व की अवहेलना करना मूर्खता है। अस्तु! मेनका जब उनके शब्दों को अनसुना कर के चली जाती है, तो विश्वामित्र आत्म-घात के लिये प्रस्तुत होते है, परन्तु मेनका तुरन्त ही आकर उनका हाथ पकड़ लेती है। (पुरुष जब-जब अधीर होकर आत्म-ज्ञान खो बैठा है, उस समय नारी ही उसे सम्हालती रही है।) बस, मेनका विजय लाभ करते ही आत्म-समर्पण कर देती है। पुरुष के शेष अहं को धोने के लिये वियोग भी आवश्यक था—उसके धुलते ही मेनका की नारी घुल जाती है—

हृदय प्रेम कादम्ब पियो आकण्ठ तक।

बारहवर्ष के बाद मेनका माता के रूपमें प्रकट होती है। यहाँ उसका एक नवीन रूप विकसित होने को था, परन्तु विश्वामित्र का अहं फिर जागृत हो जाता है और मेनका को फौरन आत्म-चेतना प्राप्त होती है। अब नर और नारी का प्रतियोग स्पष्ट हो कर सामने आता है। मेनका का मातृ-रूप प्रारम्भ होते ही समाप्त भी हो जाताहै। उधर विश्वामित्र का मन एक बार फिर

स्निग्ध हो जाता है। और वे सोचने लगते हैं—

नारी को निज सुख का साधन मानकर,
उसे बनाया हमने पथ का पुष्प है।
हम सब सुख से रहें, समान विभाग से,
जीवन का सुख भोगें·················'··।

परन्तु पुरुष का अहं फिर उन्हें दूसरी ओर प्रेरित कर देता है और वे नवजात बालिका को छोड़ कर चले जाते हैं। इस प्रकार नर-नारी के संघर्ष की समस्या उलझी ही रह जाती है।

'विश्वामित्र' में यद्यपि टेकनीक की ओर लेखक काफ़ी सतर्क मालूम पड़ता है। फिर भी 'मत्स्यगंधा की अपेक्षा नाट्य-तत्व इस में दुर्बल है। इसमें सबसे बड़ा दोष है संघर्ष और साथ ही अन्विति का अभाव। उत्तरार्ध में पाठक लेखक के साथ कठिनाई से ही चल सकता है और सोचता है कि आखिर ये बिखरी-बिखरी बातें क्या अर्थ रखती हैं। हाँ कवित्व की दृष्टि से विश्वामित्र कहीं अधिक स्वच्छ और पुष्ट है। उसमें मनोभावना का मूर्तीकरण बड़ा सुन्दर और सुव्यक्त है।

भट्टजी का नवीनतम गीति-नाट्य है राधा। राधा का कृष्ण के प्रति आकर्षण, समर्पण और अन्त में निलय इसका विषय है। कवि ने राधा को आवेग की प्रतिमूर्ति के रूप में चित्रित किया है—मानों नारी का रूप-मोह, उसकी अग्निमयी वासना राधा में साकार हो गई हो। कृष्ण का रूप प्रेमी का नहीं है। वे रागातीत जीवन्मुक्त के रूप में उपस्थित हुए हैं-- ये कृष्ण भागवत के लीला पुरुपोत्तम कृष्ण नहीं हैं–गीता के योगेश्वर कृष्ण हैं—स्वभावतः इस नाटक का संघर्ष आवेग और विवेक का संघर्ष है—अथवा यों कहें कि प्रकृति और ज्ञान का संघर्ष है।

भट्टजी गीति-नाट्य में मानसिक चिंतन के प्रदर्शन, प्रकृति

और गीति-तत्वको ही अधिक महत्व देते हैं—परन्तु वास्तव में इनका महत्व होते हुये भी नाटक में सदैव द्वन्द्वमय परिस्थिति की ही विशेषता होनी चाहिये। गीति-नाट्य में छोटी कहानी अथवा एकांकी की भांति यह परिस्थिति एक क्षण विशेष में संकुचित—केन्द्रीय हो जाती है-और इसी क्षण की घनता (Tensity) पर ही नाटक का एक नाटकत्व आधृत रहता है। मत्स्यगन्धा की सफलता का यही रहस्य है। शेष दोनों नाटकों में ये क्षण दुर्बल हैं। 'राधा' में ऐसे क्षण दो आते हैं, एक तो तीसरे दृश्य में जहाँ राधा कृष्ण को आत्म समर्पण करती है और कृष्ण रागातीत रहते हुये भी उसका सखा बनना स्वीकार कर लेते है। दूसरा क्षण अन्त में आता है जहाँ आवेग-लथपथ राधा कृष्ण-रूप में आत्म-निलय कर देती है। पहला क्षण कृष्ण के रागातीत स्वभाव के कारण तीखा नहीं बन पाता—यद्यपि राधा का आवेग-प्रवाह उसको तरङ्गित अवश्य कर देता है। अन्त के निलय-क्षण में स्वभावतः ही अधिक गहराई है—कृष्ण का स्वर बदल कर, पहले राधा को उत्तेजित करना और फिर एक साथ प्रकट हो जाना उसको तीव्रतर बनाने में सहायक होता है। परन्तु यहाँ कवि एक मनोवैज्ञानिक त्रुटि कर बैठता है, राधा अपनी अन्तिम घड़ियों में कृष्ण को पाकर नाचने और गाने लगती है और उसके निर्वाण के उपरांत कृष्ण एक लम्बा-सा भाषण देने लगते हैं। इस प्रसङ्ग में जो प्रभाव मौन—अथवा अन्त के कुछ गिने-चुने शब्दों द्वारा उत्पन्न किया जा सकता था वह नहीं आ सका। यहां व्यञ्जना होनी चाहिये थी अभिव्यक्ति नहीं। इसका साक्षी है अन्तिम 'रङ्ग-संकेत':—

'धीरे-धीरे सूर्यास्त होता है। कृष्ण और राधा का रूप अन्धकार में एक हो जाता है और राधा-कृष्ण की प्रतिच्छवि उसी अन्धेरे में दिखाई पड़ती है।'

इन दो पंक्तियों के द्वारा पाठक के मन में जो नाटक की सार भावना मूर्तिमन्त हो जाती है वह पिछले दो तीन पृष्ठों की वाक्यमाला के द्वारा सम्भव नहीं हो सकती।

इन गीति-नाट्यों में कवित्व-गुण का प्राचुर्य्य है। उनमें यौवन के रूप और रङ्ग का राशि-राशि उल्लास मिलेगा। भट्टजी की तरल प्रवाहमान भावुकता, मनोरम शब्दावली और रङ्गीन-कल्पना चित्रों में खूब खुल कर खेली है। यह तो मानना ही पड़ेगा कि कहीं-कहीं कल्पना-विलास और भाषा की रेशमी जाली में उलझकर वह अपनी तीव्रता खो बैठी है, परन्तु जिस प्रकार आग की चिनगारी फूलों के ढेर में ढकी होने पर भी, समय पाते ही एक साथ बल उठती है, इसी प्रकार प्रसंग आने पर यहाँ भी आवेग की प्रखर शिखाएँ अलङ्कार-राशि में फूट उठी हैं।

पं० उदयशङ्कर भट्ट के व्यक्तित्व का मूल तत्व है उनका गीत-कवि रूप, जिसमें जिज्ञासा की कसक है, और उसका संस्कार हुआ है मुख्यतः संस्कृत नाट्यसाहित्य एवं प्रसाद के प्रभाव में। उनके मन की कविता उन्हें दूर, रहस्य और वैभव के अतीत में ले गई है, परन्तु उनकी जिज्ञासा अपने साथ कुछ आजकल की जैसी समस्याएँ लेकर गई है। उसके नाटकों का आधार प्रधानतः पुराण अथवा उतना ही पुराना हिन्दू-इतिहास है, पर उसमें समस्या आज की है।

गीत कवि जब नाटक की ओर हाथ बढ़ाता है, तो उसको घटनाओं से सतर्क रहना अनिवार्य हो जाता है, इसलिए ऐसे व्यक्ति को घटना-प्रधान नाटकों की अपेक्षा भाव-प्रधान नाटकों में सफलता आसानी से मिल सकती है। भट्टजी के साथ यही बात हुई है। उनके अम्बा, मत्स्यगन्धा, विश्वामित्र और राधा भाव-नाट्य हैं; उनमें घटनाएँ विरल हैं, अतः यहाँ उनकी

जिज्ञासा-मूलक कवि-प्रतिभा खुल खेल सकी है, लेकिन जहाँ संस्कृत नाटक का मोह उन्हें घटना-प्रधान नाटकों की ओर ले गया है, वहाँ वे घटनाओं के जमघट में बुरी तरह फँस गए हैं। पृथक और सशक्त दृश्य देने की अपेक्षा वे केवल छोटे-छोटे दृश्य ही हमें दे सकते हैं क्योंकि इनकी कथा का विन्यास प्रबन्ध-काव्य की भाँति छोटी-छोटी घटनाओं की कड़ियाँ जोड़ते हुए होता है। उसमें नाटकीय आकस्मिकता (Dramatic abruptness) नहीं होती। कारण यह है कि भट्टजी की प्रतिभा गीतिमयी ही है उसमें नाट्य-तत्व क्षीण है—अतः प्रायः ऐसा होता है कि घटना को नाटकीय बनाने का असफल प्रयत्न करते हुए ये उसे गीति-मय बना देते हैं—जिससे उसकी शक्ति सर्वथा नष्ट हो जाती है। इनके नाटकों में महान् घटना और इसलिए महान दृश्य दुष्प्राप्य ही हैं। इधर इनकी जिज्ञासा, जो बुद्धि की अपेक्षा कल्पना और भावुकता से अधिक पोषित है, मत्स्यगन्धा, अम्बा और विश्वा-मित्र में कोमल धुँधली रेखाओं से भव्यचित्र खींच सकी है। भट्टजी के नाटकों में वियोगान्त का आग्रह इसी गीतिमयी जिज्ञासा का परिणाम है—

'जब विश्व में घिरी हुई बादलों की घटाएँ झञ्झावेग से झमक कर धरा की अभिलाषा को पूर्ण किए बिना ही दूसरी दिशा को चली जाती हैं, जब अकाल में ही कलियों की मृत्यु हो जाती है, जब आशा के मन्दिर में विहार करने वाले यात्री को अपने दिल पर पत्थर रख कर अभिलाषाओं का खून करके, उन्हें अधूरा छोड़ कर अनन्त की ओर लौटना पड़ता है, तब अपूर्णता नाट्यकला का अङ्ग क्यों नहीं बन सकती? अपूर्णता भी कला है'।

इन चित्रों में जो कहीं-कहीं रेखाएँ पुष्ट नहीं हो सकीं इसका कारण यह है कि उनकी विधात्री प्रतिभा में गीति का बहाव बहुत अधिक तथा जिज्ञासा की गहराई एवं बुद्धि की पकड़ अपेक्षाकृत कम है।

हिन्दी के ये गीति-नाट्य स्पष्टतः दो वर्गों में विभक्त किए जा सकते हैं—एक वर्ग में अनघ और स्वर्ण-विहान आते हैं, दूसरे में तारा, मत्स्यगन्धा, विश्वामित्र और राधा—करुणालय इनके बीच की कड़ी है। पहली दोनों रचनाएँ शुद्ध द्विवेदी काल की रचनाएँ हैं—दूसरी चारों छायावाद काल की। द्विवेदी युग की प्रवृत्ति एकांत बहिर्मुखी थी—उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप छायावाद में एकांत अन्तर्मुखी वृत्ति की प्रमुखता हुई। द्विवेदी काल के लेखक समाज की ओर दृष्टि किए, जीवन की बहिरंग व्यवस्था की चिन्ता करते थे—उनके लिए अपना व्यक्तित्व जैसे नहीं था। इसके विपरीत छायावाद काल का लेखक बाह्य जीवन से दृष्टि को समेट सिकोड़ कर अन्तस् में ही प्रवेश करता था—उसके लिए जैसे सारा संसार अपने मन के भीतर ही हो। अनघ और स्वर्ण-विहान में व्यक्तित्व का बहिरंग प्रसार है; तारा, मत्स्यगन्धा, राधा आदि में उसकी एकाग्रता—इन सभी का व्यक्तित्व अपने में ही केन्द्रित है। इसी कारण जहाँ पहले दो नाटकों का धरातल सामाजिक है वहां इन चारों का शुद्ध मानसिक। उनमें सामाजिक व्यवस्था की श्रद्धापूर्ण स्वीकृत है—अतएव उनके मूल्य बहिरंग

अर्थात् शुद्ध नैतिक हैं; इनमें मन की तड़प है, अन्तस् की कचोट है जो सामाजिक व्यवस्था से पीड़ित होकर अन्त में उसको छिन्न भिन्न कर देती है, इसीलिए इनके आदर्श बाह्य न होकर आन्तरिक हैं—अर्थात् नैतिक न होकर आध्यात्मिक हैं। इनमें सामाजिक रूढ़ियों का नहीं मन के अथवा आत्मा के अनुरोधों का आदर है। करुणालय में ऐसा मालूम पड़ता है जैसे बहिर्मुखी साधना क्रमशः अन्तर्मुखी हो रही हो—करुणालय इसी परिवर्तन काल की रचना है।

गीतितत्व व्यक्ति-गत चेतना में ही मिलता है, उसमें जीवन के बहिरंग का नहीं, अन्तरंग की व्यक्तिगत अनुभूति होती है। व्यक्ति का तरल प्रवाहमान रूप गीति-काव्य को जन्म देता है—व्यक्ति का विरोधी तत्वों के बीच तना हुआ द्वन्द्वमय रूप गीति-नाट्य को। इस दृष्टि से स्वभावतः छायावाद काल का पिछला चरण ही जिसमें सूक्ष्म भावुकता से शक्ति का भी संयोग हो रहा था, उसकी सृष्टि के लिए अनुकूल पड़ा और तभी हिन्दी के सुन्दरतम गीति नाट्यों की सर्जना भी हुई।

तो इस प्रकार हिन्दी में गीति-नाट्य उँगलियों पर गिने जा सकते हैं। हिन्दी का यह घोर दुर्भाग्य था कि प्रसाद की गीति-नाट्यमयी प्रतिभा एक साथ इस ओर से विमुख हो गयी। वे साहित्य के इस अङ्ग की कितनी श्रीवृद्धि कर सकते थे यह आज केवल अनुमानगम्य है। अब नाटक से कविता का बहिष्कार-सा हो चला है—अतः स्वभाव से ही गद्य एकाङ्की का प्रचार बढ़ रहा है। उसकी वर्धमान उन्नति को देख कर गीति-नाट्य के उज्ज्वल भविष्य की कल्पना एक पुण्य इच्छा मात्र ही होगी। इसके अतिरिक्त जब हिन्दी के गद्य नाटकों के लिए रङ्गमञ्च और श्रोता-समाज का अभाव है, ऐसी दशा में गीति-नाट्य का प्रश्न ही मुश्किल से उठता है। फिर भी काव्य के इस चारु अङ्ग की अपनी विशेषता है, उसका अपना आकर्षण है। क्या हम निकट भविष्य मे 'मत्स्यगन्धा' का भाव-नाट्य देखने की आशा करें।

२—भाव-नाट्य

गीति-नाट्य से ही बहुत कुछ मिलते जुलते कतिपय अन्य नाटक भी हिन्दी में हैं जिन्हें हम आसानी से भाव नाट्य कह सकते हैं। इन दोनों की आत्मा एक ही है अर्थात् ये गीति-प्राण हैं, इनमें घटना की मांसलता नहीं है, भावना की तरलता है—परन्तु माध्यम भिन्न है। गीति-नाट्य सर्वथा कविताबद्ध होता है, भाव नाट्यों का माध्यम गद्य होता है। इस प्रकार के नाटक संस्कृत-प्राकृत में प्रचुर संख्या में मिलते हैं—विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्र, कर्पूरमञ्जरी आदि नाटक गीतितत्व की प्रधानता के कारण भाव-नाट्य ही तो हैं। साधारणतः संस्कृत नाटिका की परिभाषा में भाव-नाट्य के सभी लक्षण आजाते हैं। इसका भी मुख्य रस शृंगार और प्रधान पात्र नारी होता है। नारी की प्रधानता में एक विशेष मार्दव और चारुता होना अनिवार्य है। भारतेन्दु बाबू का नाटक चन्द्रावली भी इस श्रेणी में आता है। उसके उपरान्त यह परम्परा आज तक चली। पं० गोविन्द बल्लभ पन्त के दो नाटक 'वरमाला' और 'अन्तःपुर का छिद्र' उसी शृंखला की कड़ियाँ हैं।

वरमाला—

वरमाला में प्रेमी मन का सुन्दर विश्लेषण है। कभी कभी हमारी घृणा किसी घटना-विशेष से ठोकर खाकर अनायास ही प्रेम में परिणत हो जाती है और प्रेम परिस्थिति के परिवर्तन से मुक्त प्रतिदान मिलने पर भी घृणा का रूप धारण कर लेती है। परन्तु वास्तव में यह घृणा भी परदे का अपर पार्श्व—अर्थात् प्रेम का दूसरा रूप ही होता है जो फिर से प्रेम में परिवर्तित होने का अवसर ढूंढ़ता रहता है। मन के भावों का यही पट परिवर्तन वरमाला में मिलता है। अवीक्षित के प्रणय को अयाचित ही प्राप्त कर वैशालिनी का नारी-मन पुरुष के इस दुर्बल समर्पण के प्रति एक साथ विरक्त हो जाता है। अवीक्षित का प्रलोभन के द्वारा उसे मोल लेने का प्रयत्न उसको और भी कठोर कर देता है। आगे अवीक्षित जब उसे अपने बाहु-बल से जीत लेता है तो उसकी विरक्ति और घृणा अपनी चरम-सीमा पर पहुँच जाती है और वह आत्म-हत्या करने को उद्यत हो जाती है क्योंकि पशु-बल के द्वारा प्रेम का जीतना असम्भव है। परन्तु यहीं एक क्षण ऐसा आता है जब परिस्थिति बदल जाती है, अवीक्षित का पशु-बल पराजित हो जाता है—उसे वैशालिनी की सहायता अपेक्षित हो जाती है। पहले उसकी परिस्थिति की दीनता, नारी की दया को जागृत करती है—और फिर अवीक्षित पर किया हुआ अत्याचार—पुरुष का न्याय-पक्ष उसके प्रेम को भी जीत लेता है। यहाँ पुरुष के मन का परदा बदलता है: जब उसका पौरुष ही, जो नारी पर अपना सहज अधिकार मानता है, पराजित हो गया तो वह कैसे नारी के प्रेम के योग्य हो सकता है—ऐसी अवस्था में मिला हुआ प्रेम तो दया है। निदान अवीक्षित उससे विरक्त होकर चला जाता है। परन्तु हृदय में बैठी हुई प्रणय की प्रतिमा उस विरक्ति को सफल नहीं होने देती और एक

अनुकूल क्षण में जब अवीक्षित राक्षस से वैशालिनी की रक्षा कर फिर से अपने पौरुष का प्रमाण देता है, प्रेमी मन का अप्राकृतिक ढंग से साधा हुआ संयम बह जाता है, और अन्त में पुरुष अपने पौरुष से नारी के मन और शरीर पर अधिकार करता है। यह सचमुच पुरुष और नारी के प्रेम में उनके अहं (ego) का संघर्ष है।—वरमाला में इस संघर्ष की सुन्दर कोमल अभिव्यक्ति है :

'हम दोनों ने- यदि एक दूसरे से घृणा करनी थी, तो एक साथ क्यों नहीं की ? यदि प्यार करना था तो एक साथ क्यों नहीं किया ?'

यही नाटक की विषमता है।

पन्तजी को रङ्गमञ्च का व्यावहारिक अनुभव है—उन्होंने मूक दृश्यों की उद्भावना कौशल से की है; स्वप्न-दृश्यों का प्रयोग भी उस समय के देखते हुये एक कलापूर्ण विचित्रता है, उससे रङ्ग-सौन्दर्य्य की श्रीवृद्धि होती है। वरमाला एक कोमल भाव-पूर्ण रचना है जिसमें मीठे गद्य-गीतों का प्राचुर्य्य है:—

"वह एक छोटा सा बीज ! मेरे मन को चपल नहीं कर सका, मैं उसके छिपे सौन्दर्य्य को न देख सकी। मैंने उसे असावधानी से भूमि के भीतर छिपा लिया। आकाश का श्याम मेघ न जाने किसके संकेत से पानी बरसा गया—उसे पृथ्वी के हृदय से निकाल कर, एक सुन्दर तरुवर का रूप देकर चला गया। बहुत दिन तक ग्रीष्म के ताप, शिशिर शीत और वायु के झोंकों में खड़े-खड़े उसे तपस्या करनी पड़ी। अचानक एक दिन कुसुमाकर वसन्त ने प्रकट होकर कहा "वर माग।" अपनी कान्ति से मेरे मन को हरने वाले पुष्प, तेरे लघु जीवन का यही इतिहास है।"

अंतःपुर का छिद्र :—

पं० गोविन्दवल्लभ पन्त का दूसरा नाटक है—अन्तःपुर का छिद्र—इसमें भी गीति-तत्व की ही प्रमुखता है और इसका विषय भी नारी-मन का चित्रण है। इसका मुख्य पात्र है पद्मावती। वह

भगवान अमिताभ के सात्विक सौन्दर्य पर मुग्ध है—प्रातः सायं उन्हें अपने राजभवन के नीचे से गुज़रते हुए देखने के लिए वह दीवार में एक छिद्र करती है। चेतन रूप में तो उसका आकर्षण सात्विक और शुद्ध है, परन्तु अन्तर्चेतन में विकार न हो यह बात नहीं—वह नारी का पुरुष के प्रति कामाकर्षण है। पद्मावती प्रयत्न-पूर्वक उसे दबाती है, उदयन के चित्र को भी सामने रखती है, परन्तु उसका मन सचमुच खोया हुआ है। उदयन को पार करता हुआ वह अमिताभ पर ही जा टिकता है और रानी को स्वीकार ही करना पड़ता है।

'यह छिद्र मैं ने अपने वक्ष में किया है! इससे हो कर मेरे मन की वेदना कई दिनों से राज-पथ में फिर रही है। वह पगली है; चञ्चल नेत्र, मुक्त केश और बिखरा अञ्चल लिए वह दसों दिशाओं में किसी को खोज रही है।'

अन्त में वह अपनी भावना को दमित न करके अपने पाप का स्वीकार करती है और वासना को उदात्त (Sublimate) कर के ही उससे छुटकारा पाती है।—उदयन की दूसरी रानी मागंधी को भी अमिताभ के प्रति आकर्षण हुआ, परन्तु तामस का अंश अधिक होने से वह तिरस्कृत हो कर प्रतिशोध में परिणत हो गया। अमिताभ के आकर्षण द्वारा इन दोनों नारी-पात्रों के हृदय में जो प्रतिक्रियाएँ हुईं, और स्वयं उदयन के मन पर उनका जो प्रभाव पड़ा उसका अध्ययन अत्यन्त मनोरञ्जक होता, परन्तु लेखक ऐसा नहीं कर सका! कारण यह है कि उन प्रतिक्रियाओं को अभिव्यक्त करने के लिए जिन घटनाओं का आयोजन किया गया है वे अत्यन्त स्थूल और थियेट्रिकल हैं—उनके द्वारा नाटक के मार्दव को आघात पहुँचता है।

पं० गोविन्दवल्लभ पन्त की प्रतिभा में एक कोमल गीति-भावना मिलती है—इस भावुकता में छायावाद का सूक्ष्म अन्त-

विश्लेषण तो नहीं है, परन्तु संस्कृत गीति-काव्य की तरलता निस्सन्देह है। एक हलका-सा रोमांस का स्पर्श और उससे चञ्चल होकर मुसकराती हुई भाषा, उनके नाटकों का सर्वस्व है। प्रकृति के प्रति उनका सहज मोह है—उनकी भावनाओं की अभिव्यक्ति का प्रमुख साधन भी प्रकृति-चित्र ही है।

अम्बा—

पं० उदयशंकर भट्ट का अम्बा भी सुन्दर भाव-नाट्य है। इसकी कथा तो पौराणिक है परन्तु भट्टजी के अन्य नाटकों की भाँति इसमें भी आज की समस्या का आरोप है—यह समस्या है स्त्री का स्वातन्त्र्य-अधिकार! मत्स्यगन्धा और विश्वामित्र के सदृश्य ही अम्बा में भी चिरन्तन नारीत्व की समस्या अत्यन्त तीखे रूप में हमारे सामने आती है। अधिकार-दृप्त पुरुष किस प्रकार नारी को केवल उपभोग की वस्तु मान कर उसके व्यक्तित्व और आत्मा का तिरस्कार करता रहा है—यही सत्य, इन नाटकों में आज की स्त्री-स्वातन्त्र्य-भावना अथवा स्त्री-पुरुष प्रतियोगिता से मानो बल प्राप्त कर, संघर्ष का रूप धारण कर आया है। मत्स्यगन्धा अपने मोह और उच्चाकाँक्षा के कारण इस संघर्ष में पराजित होती है। विश्वामित्र में मेनका की पहले जय फिर पराजय और अम्बा में दो जन्मों की उत्कट साधना के बाद उसकी विजय होती है।

अम्बा में इस संघर्ष का रूप अत्यन्त स्पष्ट हो गया है। उसके पात्र ही मानो स्वयं दो श्रेणियों में विभक्त हो जाते हैं, (१) पीड़क पुरुष समाज जो अपने बल और विवेक के द्वारा स्त्री को सर्वथा अधिकृत समझता है, और (२) पीड़ित नारी-वर्ग जो सामाजिक परिस्थिति से विवश होकर पुरुष की इच्छा पर अपना सर्वस्व गँवा, जीवन भर कराहता रहता है। पहले वर्ग में आते

हैं भीष्म, शाल्व और स्वर्गीय महाराज शान्तनु, दूसरे में अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका और चिर-यौवना महारानी सत्यवती। अम्बा और भीष्म नाटक के प्रधान पात्र हैं, परन्तु इनका व्यक्ति गत विरोध नहीं है, भीष्म के हृदय में अम्बा के प्रति अनुकम्पा है। ये दोनों तो प्रतीक पात्र हैं, भीष्म प्रतीक हैं अभिमानी पुरुषत्व के, अम्बा प्रतिकृति है पीड़ित किन्तु जागृत नारीत्व की। इस संघर्ष को लेखक निष्पक्ष अथवा तटस्थ होकर नहीं देख सका—वह अम्बा की सहायता के लिए परशुराम की भाँति अपना सम्पूर्ण प्रतिभा-बल लेकर आ खड़ा हुआ है। परशुराम तो भीष्म से हार गये; परन्तु लेखक अम्बा की पूर्ण विजय करा कर ही मानता है—शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की।

स्त्री और पुरुष का यह अधिकार-सम्बन्ध मानव-जीवन की चिरन्तन समस्या है। प्रत्येक देश और काल के विचारक ने भावुकता, दर्शन, विज्ञान के सहारे इस पर प्रकाश डाला है। हमारे प्राचीन अध्यात्म और नीति पुरुष को ब्रह्म का रूप और नारी को प्रकृति की प्रतिकृति मानकर नारी को स्वभाव से ही पुरुष के आधीन मानते रहे हैं। आज का मार्क्स दर्शन आर्थिक परिस्थितियों के द्वारा इस अधीनता की व्याख्या करता है। मनोविज्ञान कहता है कि स्त्री की अधीनता शरीर-विज्ञान की घटना है। योनि सम्बन्ध में सदैव अधिकृत रहने के कारण वह जीवन के सभी क्षेत्रों में पुरुष के आधीन रहती है। आज से पहले भी विचारकों ने पुरुष के अत्याचार और नारी के उत्पीड़न की भर्त्सना की है, परन्तु ये विचार अधिकतर पुरुष के ही थे—आज स्वयं नारी ही इस प्रश्न को लेकर खड़ी हो गई है। अम्बा नारी की ईर्ष्या प्रतिहिंसा-वृत्ति की तीखी तस्वीर है। सत्यवती ने अपने पश्चात्ताप से, अम्बा और अम्बालिका ने अपने गीतिमय

चाञ्चल्य एवं निरीह बलिदान से उसको और भी तीव्रतर कर दिया है। अन्य पात्रों की रूप रेखा भी स्पष्ट है। लेखक ने बारीक तूली से उन्हें अङ्कित किया है। चित्रांगद और विचित्रवीर्य में अम्बा और अम्बालिका में सूक्ष्म भेद है। घटनाओं की विरलता होने से इस नाटक में एकाग्रता है और इसी कारण यूनिटी भी असंदिग्ध है।

यद्यपि कथा की गति पात्रों की दार्शनिक शब्दावली में बार-बार उलझ जाती है, (और प्रसाद के अनुकरण पर इस प्रकार का उलझा हुआ दर्शन-कवित्व मय विवेचन जो प्रायः सभी पात्रों में मिलता है, इस नाटक का सबसे बड़ा दोष है), फिर भी मूलभावना की तीव्रता के कारण उसमें तेजी बनी रहती है। और अन्तिम दृश्य का प्रभाव अनिवार्य और एकान्त होता है।

मीरा—

मीरा के लेखक हैं प्रो० मुरारिशरण माङ्गलिक। मीरा में यद्यपि भक्ति की द्रवणता का ही प्राधान्य है, परन्तु उसकी तह में क्रान्ति का स्वर भी स्पष्ट है। जो नारी पूर्ण आत्म-निलय करती है—अपने व्यक्तित्व को घुला देती है, वही विद्रोही की दृढ़ता द्वारा कुल समाज और नीति की रूढ़ियों को छिन्न-भिन्न भी कर देती है। इस नाटक के टोन में कुछ-कुछ पारसी रङ्ग का प्रभाव होते हुए भी एक विशेष मार्दव है जो लेखक का अपना व्यक्तिगत गुण है। अभिनय की दृष्टि से इसके कुछ दृश्यों में चारुता है और अन्तिम दृश्य में वाञ्छित उत्तेजना भी।

नवीन गीति-नाट्य में नारी—

ये गीति नाट्य नारी के मानसिक द्वन्द्व की कहानियाँ हैं। इन सभी में नारी अत्यन्त सजग होकर कथा-सञ्चालिका के रूप में

हमारे सामने आती है। वास्तव में उसका व्यक्तित्व ही उनके गीति तत्व का पोषक है, परन्तु फिर भी इन पात्रों का व्यक्तित्व गीतिमय नहीं है—वे निष्क्रिय सौन्दर्य्य मात्र नहीं हैं जिसमें कोमलता के अतिरिक्त और कुछ हो ही न। भारतीय-साहित्य में अधिकतर नारी के व्यक्तित्व का कोमल गीतिमय रूप ही ग्रहण किया गया है।

नारी प्राण-विहीन चेतना से रहित
एक भावना-पुञ्ज पराई आस है।
वह विलास स्वच्छन्द पुरुष के प्राण की
मदिरा जिसको स्वय नशा होता नहीं।

रामायण में सीता का व्यक्तित्व करुण गीतितत्व से निर्मित है। रामायण काल मर्यादा और व्यवस्था का काल था—जिस समय परिवार धर्म अपने चरम उत्कर्ष पर था, जब नारी का मर्यादित गृहिणी रूप ही आदर्श समझा जाता था। महाभारत काल में आकर देश में मर्यादा-बन्धन ढीले पड़ गए—परिवारधर्म तो एक दम छिन्न भिन्न हो गया। वह सामाजिक अव्यवस्था और इस कारण सापेक्षिक स्वतन्त्रता का समय था—अब वातावरण बन्द नहीं रह गया था। इसीलिए इस समय विद्रोह की भावना अबाध रूप में मिलती है। अम्बा और धीवर-कन्या मत्स्यगन्धा इसी समय हुई थीं—जिनकी चिरतृष्णा न जाने कब तक समाज से टकराती रही। इसी समय ही तारा मेनका आदि के उपाख्यान लिखे गए, जिनमें सामाजिक व्यवस्था का घोर तिरस्कार है। हिन्दी के गीति नाटकों की आधार भूमि प्रायः यही युग है—उनमें से अधिकांश की कथाएँ पौराणिक हैं और मूल समस्या सैक्स है, जिसमें नारी के पराश्रित व्यक्तित्व की तड़प और आक्रोश है। आधुनिक युग की इस प्रमुख समस्या का विवेचन करने के लिए महाभारत काल के आख्यानों का चुनाव संयोगवश

ही नहीं किया गया—उसका मनोवैज्ञानिक कारण है।

सैक्स की चेतना समस्या तभी बनती है जब उसका समाज के विधान से संघर्ष होता है—एक पत्नीव्रत और पातिव्रत मानो इसी संघर्ष के पूर्व-निर्धारित उपचार हैं। हमारे समाज में इनका गौरव अस्वाभाविक रूप से बढ़ जाने से सहज वृत्तियों का दमन होता रहा और यह दमन नारी-वर्ग में ही अधिक हुआ—हमारी नीति में एक-पत्नीव्रत को तो बहुत कुछ भुला दिया गया, पातिव्रत पर ही समाज, धर्म और न्याय ने अधिक जोर दिया। इसीलिए नारी के व्यक्तित्व को गृहस्थ के बाहर अभिव्यक्ति प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला—उसके व्यक्तित्व का बहुत बड़ा अंश दमित ही रहा। परिणाम यह हुआ कि जब कभी नारी की दमित वृत्तियाँ उभर कर ऊपर आई है, तो सारा समाज झनझना उठा है। वृद्ध पत्नी तारा इसी पातिव्रत धर्म के अत्याचार से पीड़ित है। राधा भी इसी के विरुद्ध विद्रोह करती है, मीरा भी। पद्मावती में विद्रोह की शक्ति नहीं है, वह अमिताभ सम्बन्धी अपनी वासना को उदात्त रूप देकर—दमन कर के नहीं—परित्राण पाती है—स्पष्टतः इन नारी-पात्रों का व्यक्तित्व अत्यन्त तीखा है। उसमें आधुनिक युग की क्रान्तिमयी नारी—जिसके सबसे बड़े समर्थक थे द्विजेन्द्रलालराय—महाभारत काल की विद्रोह भावना से बल प्राप्त कर, हमारे सामने आती है। उसकी यह क्रान्ति मूलतः सैक्स के आश्रित होती हुई भयङ्कर अहङ्कार के रूप में व्यक्त होती है, और ऐसा प्रतीत होता है जैसे इन नारी पात्रों के हृदय में वासना की बड़वा जल रही है।

दूसरे, आज की नारी-स्वातन्त्र्य भावना अथवा नर-नारी प्रतियोगिता के परिणाम स्वरूप इन स्त्रियों में पुरुष द्वारा प्रपीड़ित होने की उत्कट चेतना है—अतएव ये क्षुब्ध आवेग के कारण मानसिक सन्तुलन खो बैठी हैं—इनके चरित्रों में किसी न किसी

रूप में अतिचार है—मर्यादा का उल्लङ्घन है। अतएव इनके क्रोध, घृणा, काम-वासना, उच्चाकांक्षा, विजय-गर्व सभी में एक गहरी करुणा की अन्तर्धारा है—ये जीत कर भी हार जाती हैं—इनके चरित्र की तीक्ष्णता पीड़ा के विष में बुझी हुई है। और इसका कारण यह है कि ये सभी नारी जीवन की मूल कुञ्जी खो बैठी हैं। मत्स्यगन्धा में उद्दाम महत्वाकांक्षा है; तारा में भीषण असन्तोष और भूखी तृष्णा है; उर्वशी में पुरुष के अत्याचार के विरुद्ध घृणा है; मेनका और वैशालिनी में विजयकामी अहंकार है—और अम्बा में जैसे ये समस्त अग्निमयी भावनाएँ एकीकृत हो गई हैं। उसकी प्रणय वासना आग की तरह प्रज्वलित हुई थी, परन्तु प्रेमी पुरुष द्वारा तिरस्कृत होकर वह उतने ही वेग से घृणा अथवा प्रतिशोध में बल उठी। उसके चरित्र में जो बिजली की शक्ति है वह इसी कुण्ठित पुञ्जीभूत वासना के कारण। इस प्रकार आप देखें कि इन सभी पात्रों में पाने की तृष्णा है—ये सभी पाने के भूखे हैं, देने के नहीं। और यही उनकी असफलता—उनकी पीड़ा का कारण है। ये सभी नारियाँ वह उपदेश भूल गई हैं जो लज्जा ने आदि नारी श्रद्धा को दिया था—

'नारी तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजत नग पदतल में,
पीयूष स्रोत-सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में।'

और इसीलिए ये दुखी हैं। नारी-जीवन की इसी विषमता का समाधान भट्टजी ने मत्स्यगन्धा, उर्वशी और मेनका के उपरांत राधा की सृष्टि करके किया है—राधा बिना किसी प्रकार के प्रतिदान की आशा किए आत्म निलय कर देती है। वह लेना कुछ नहीं चाहती, सभी कुछ दे देती है, इसीलिए वह सब कुछ पा लेती है।

———

हिन्दी में एकांकी

हिंदी एकांकी की भूमिका—

हिन्दी में एकांकी पश्चिम से आया, इस बात को सुनकर पुराने आचार्य नए आलोचकों की पश्चिम-पूजा पर खीझ उठे हैं। सच-मुच संस्कृत नाट्यशास्त्र में रूपक के कई उपभेद ऐसे हैं, जिनमें केवल एक ही अंक होता है—उदाहरण के लिए हम अङ्क, व्या-योग, भाण, वीथी आदि का नाम ले सकते हैं।

अङ्क का स्थायी रस करुण होता है, स्त्रियों का विलाप बहुत होता है। कथा इतिहास-प्रसिद्ध होती है उसी को कवि अपनी बुद्धि से विस्तीर्ण कर देता है········ वाक्‌कलह और निर्वेद के बहुत से वचन होते हैं—उदाहरण, 'शर्मिष्ठा-ययाति'। वीथी में कोई एक पुरुष नायक कल्पित कर लिया जाता है, आकाश-भाषित के द्वारा उक्ति-प्रयुक्ति होती है। शृंगार की बहुलता होती है—उदाहरण अप्राप्य है। भाण धूर्तों के चरित्र से युक्त अनेक अवस्थाओं से व्याप्त होता है। इसमें अकेला विट, जो निपुण और पंडित होता है, रङ्ग में

अपनी अनुभूत या औरों की अनुभूत बातों को प्रकाशित करता है। उक्ति प्रयुक्ति आकाश भाषित द्वारा होती है। कथा कल्पित होती है--उदाहरण, 'लीला मधुकर, (दुष्प्राप्य)। व्यायोग की कथा इतिहास-प्रसिद्ध नायक प्रख्यात धीरोद्धत राजर्षि, अथवा दिव्य पुरुष, स्त्री पात्र कम। रस शृङ्गार, हास्य से अन्य--उदाहरण, 'सौगन्धिका-हरण।'

संस्कृत नाट्य-शास्त्र के इस विवेचन से यह तो स्पष्ट ही है कि उपर्युक्त भेद करीब-करीब सब गौण समझे गए हैं--इनमें से कुछ के लिए तो आचार्यों को उदाहरण भी कठिनता से मिल सके हैं, फिर भी अङ्क, व्यायोग, वीथी जैसे नाटक हमारे एकांकी से थोड़ा-बहुत मेल रखते हैं। भास का उरुभङ्ग इसका एक सुन्दर उदाहरण है। भास ने और भी कई एकाङ्कियों का सृजन किया है, पर उनके बाद यह परम्परा बहुत आगे न चल सकी। बाद में 'सौगन्धिका-हरण' जैसे एकाध एकाङ्की नाटक का उल्लेख मिलता है, बस। संस्कृत में प्रवृत्ति निश्चित ही विकास की ओर रही--राजशेखर आदि के नाटक पहले नाटकों की अपेक्षा बड़े हैं। इसका कारण यह है कि हमारे यहाँ जीवन में द्वन्द्व की महत्ता न होने से साहित्य में खिंचाव (Tension) को कभी अधिक मूल्य नहीं दिया गया, इसलिए एकाग्रता (Concentration) की आवश्यकता हमें उतनी नहीं पड़ी, जितनी विदेशवालों को। यह सब देखते हुए तो हमें सत्य की रक्षा के लिए थोड़ी देर अपने देश-प्रेम को दबाकर स्वीकार करना पड़ेगा कि हिन्दी का एकांकी उसकी कहानी की तरह, पश्चिम से ही आया है पश्चिम में भी एकांकी, बहुत पुरानी सृष्टि नहीं है। वहाँ उसका आविर्भाव गत युद्ध से बहुत पहले नहीं हुआ। युद्ध के बाद तो वहाँ के व्यस्त जीवन में समय का और भी अभाव हो गया है, लेकिन फिर भी उन्हें जीवन की सभी वस्तुएँ चाहिए और इसीलिए उनका निरन्तर क्रियाशील मस्तिष्क नए-नए आविष्कार करता रहता है।

समय के अभाव में, साथ ही जीवन की गति तीव्र हो जाने के कारण पश्चिम जहाँ एक ओर विस्तार को सहन नहीं कर सकता, वहाँ दूसरी ओर वह तीखा घूँट भी चाहता है। बस, इसी प्रेरणा के वश 'कर्टेन रेजर्स' से बल प्राप्त कर यूरोप में एकाङ्की का जन्म हुआ। आज यूरोप और अमेरिका में उसका प्रभुत्व बढ़ता जा रहा है। अव्यवसायी रङ्ग-मञ्च पर तो उसका सम्मान और भी अधिक है। अँगरेजी के प्रसिद्ध कलाकार सिंज; बैरी ओनील आदि ने सुन्दर एकाङ्कियों का प्रणयन किया है।

एकाङ्की का स्वरूप—

स्पष्टतया एकाङ्की एक अङ्क में समाप्त होने वाला नाटक है और यद्यपि इस अङ्क के विस्तार के लिए कोई विशेष नियम नहीं है, फिर भी छोटी कहानी की तरह उसकी एक सीमा तो है ही। परिधि का यह सङ्कोच कथा-सङ्कोच की ओर इङ्गित करता है— और एकाङ्की में हमें जीवन का क्रम-बद्ध विवेचन न मिल कर उसके एक पहलू, एक महत्त्वपूर्ण घटना, एक विशेष परिस्थिति अथवा एक उद्दीप्त क्षण का चित्र मिलेगा। एकाङ्की का नाटक से ठीक वही सम्बन्ध है, जो कहानी का उपन्यास से—

"विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कली की भाँति खिल कर पुष्प की भाँति विकसित हो उठती है। उसमें लता के समान फैलने की उच्छृङ्खलता नहीं।"

अतः उसके लिए एकता एवं एकाग्रता अनिवार्य है—किसी प्रकार का वस्तु-विभेद उसे सह्य नहीं। एकाग्रता में आकस्मिकता की झकोर अपने आप आ जाती है और इस झकोर से नस-नस में स्पन्दन पैदा हो जाता है। विदेश के सङ्कलन-त्रय का निर्वाह भी इस एकाग्रता में काफी सहायक हो सकता है, पर वह सर्वथा आवश्यक नहीं है। प्रभाव और वस्तु का ऐक्य तो अति-

वार्य है ही, लेकिन स्थान और काल की एकता का निर्वाह किए बिना भी सफल एकाङ्की की रचना हो सकती है और प्रायः होती है। उस पार' अथवा 'एक ही क़ब्र में' जैसे एकाङ्की स्थान और समय का प्रतिबन्ध स्वीकार नहीं करते। यहाँ समय में वर्षों का अन्तर है और स्थान में सैकड़ों मीलों का।

आजकल विदेश में और हमारे साहित्य में भी कुछ ऐसे साहित्यिक प्रयोगों का प्रचलन है, जिन्हें एकाङ्की का सहयोगी कहा जा सकता है। एकाङ्की की टेकनीक की निश्चित रूपरेखा समझने के लिए इनका थोड़ा-सा विवेचन जरूरी है। पहले संवाद या सम्भाषण (Dialogue) को ही लीजिए। 'यह प्रयोग काफी पुराना है। यूरोप में साक्रेटीज़ के संवाद और यहाँ यमयमी आदि के कथोपकथन इसकी प्राचीनता के साक्षी हैं। आज के कुछ पहले स्कूलों और कालेजों में डायलॉग का काफ़ी रिवाज था। ये डायलॉग प्रायः उपदेशात्मक होते थे। वे या तो किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते थे, या कभी-कभी किसी नीति-कथा या घटना का प्रदर्शन। उनमें से कुछ तो सचमुच बड़े सजीव होते थे—उनमें उपदेश या नीति के साथ हास्य अथवा व्यंग्य की भी चटक होती थी। परन्तु नाटकोचित चढ़ाव-उतार वहाँ नहीं मिलता था। पं० हरिशङ्कर शर्मा ने 'चिड़िया घर' में इस प्रकार के कुछ हास्य व्यंग्यमय संवाद लिखे हैं। यह रूप साहित्य में कुछ अधिक विकसित न हो सका। इस प्रकार का दूसरा प्रयोग है मोनोड्रामा—एकपात्री नाटक। यह स्वगत (Soliloquy) का ही परिवर्धित स्वरूप है। इस में एक पात्र रङ्ग-मञ्च पर आकर किसी पूर्व घटना का विचार करता हुआ अथवा रङ्गमञ्च की कुछ वस्तुओं को जैसे चित्र आदि को देख कर मानो उनसे बात चीत करता हुआ, अपनी उलझी एवं विक्षिप्त अन्तर्वृत्तियों का विश्लेषण करता है। अथवा नाटककार ऐसी

परिस्थिति उत्पन्न कर देता है कि एक पात्र जहाँ अत्यन्त उत्तेजित होकर बोलता ही जाता है, वहाँ दूसरा अपने पाप की चेतना से अथवा अन्य किसी भय के कारण मूक श्रोता मात्र बना रहता है। वह जबान खोल ही नहीं सकता—हाँ उसकी भावनायें क्षण-क्षण परिवर्तित मुख-मुद्राओं द्वारा व्यक्त होती रहती हैं—अतएव अभिनय की दृष्टि से इसका कार्य अत्यन्त दुष्कर होता है। विदेश में मनोविश्लेषण के प्रचार के साथ इस प्रकार की काफी चीजें लिखी जाने लगी हैं। ब्राउनिङ्ग ने आज से एक शताब्दी पूर्व बड़े सशक्त मोनोड्रामा लिखे थे। हिन्दी में इसका एकमात्र श्रेय सेठ गोविंददासजी को है। संस्कृत के भाण और वीथी का ढाँचा इससे कुछ मिलता-जुलता है। तीसरा प्रयोग है फीचर। यह अत्यन्त आधुनिक प्रयोग रेडियो का आविष्कार है। इसका स्वरूप प्राय: सूचनात्मक होता है—इसमें किसी विषय विशेष पर प्रकाश डालने के लिये उससे सम्बद्ध बातों का नाटय-सा किया जाता है। प्रेमचन्द की 'दुनियाँ' 'दिल्ली की दीवाली' जैसे फीचर रेडियो से हर रोज ब्रॉडकास्ट होते रहते हैं। यह प्रयत्न वास्तव में अत्यन्त मनोरञ्जक है और इसमें यथार्थ चित्रण की सुन्दर सम्भावना निहित रहती है। भारत का रेडियो अभी साहित्यिक नीति को ठीक तरह नहीं अपना सका, अन्यथा फीचर का स्टैण्डर्ड बहुत शीघ्र ही ऊँचा उठ सकता था। अब रह जाते हैं फैंटेसी, रेडियो प्ले और झाँकी। ये एकाङ्की के सहयोगी नहीं वरन् उसके स्वरूप अथवा विभेद है। फैंटेसी एकाङ्की का अत्यन्त रोमाण्टिक रूप है। इस शब्द के हिन्दी में विचित्र अर्थ किये गये है। अश्क अपने स्वप्न नाटक 'छटा बेटा' को फैंटेसी शायद इसलिये कहते हैं कि उसका तानाबाना स्वप्न से बना हुआ है। एक दूसरे सज्जन फैंटेसी में प्राकृतिक घटनाओं का भाव-मय चित्रण अनिवार्य मानते हैं। परंतु ये दोनों व्याख्यायें भ्रांत

हैं। फैन्टेसी ललित कल्पना की सृष्टि अवश्य है परन्तु उसके लिये यह अनिवार्य है कि लेखक का दृष्टिकोण एकान्त वस्तुगत और स्वच्छन्द हो। उसमें कल्पना का मुक्त विहार होना चाहिये। किसी प्रकार का मनोगत विधान उसे सह्य नहीं—अर्थात उसमें से कोई परिणाम निकालने का प्रयत्न नहीं होना चाहिये जैसाकि परियों की कहानियों में होता है। फारसी का अलिफ लैला इसका सुन्दरतम उदाहरण है और संस्कृत का हितोपदेश एकदम विपरीत रूप। फैन्टेसी का माध्यम कविता, कहानी या नाटक कुछ भी हो सकता है—यहाँ अपना प्रयोजन केवल नाट्य रूप से ही है। हिन्दी में रामकुमार वर्मा का 'बादल की मृत्यु' एकमात्र फैन्टेसी है। झाँकी को तो दरअसल एकाङ्की का शुद्ध रूप समझना चाहिये। इसमें केवल एक ही दृश्य होता है। अतः स्थान और समय के ऐक्य का भी पूरा-पूरा निर्वाह हो जाता है। एक घटना, एक अनुभव या एक परिस्थिति-अथवा एक उद्दीप्त क्षण वाली बात झाँकी में बड़ी सचाई के साथ घटती है। रेडियो प्ले का एकाङ्की से कोई मौलिक भेद नहीं है। रेडियो की आवश्यकता के अनुसार उसमें दृश्य अंश न्यून से न्यून और श्रव्य अंश अधिक से अधिक होता है, बस। कहानी और एकाङ्की में भी बहुत साम्य है। इन दोनों की अन्तरात्मा में तो कोई अन्तर है ही नहीं इसके अतिरिक्त ऐसी अनेक कहानियाँ भी मिल जायँगी जो केवल संवाद के सहारे ही चलती हैं। लेकिन फिर भी कहानी और एकाँकी में अभेद है, यह धारणा मिथ्या है। चन्द्रगुप्तजी का वीणा में प्रकाशित कहानीनुमा एकाङ्की इसी धारणा का प्रतिफल है। उसे सुन्दर कहानी जिस सरलता से कहा जा सकता है, सफल एकाङ्की उस सरलता से नहीं। कहानी का यह स्वाभाविक आग्रह कभी नहीं हो सकता कि उसकी घटना और पात्रों की रूपरेखा उतनी स्पष्ट और मूर्त हो, जितनी एकाङ्की की अनिवार्य रूप से

होती है। रूपरेखा के जो सूक्ष्म अवयव एकाङ्की में उद्देश्य के साधक हैं, वे ही कहानी में बाधक होंगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एकाङ्की का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है, यह बात दूसरी रही कि कोई कहानी थोड़ी-बहुत काट-छाँट के बाद एकाङ्कीमें परिवर्तित करदी जाय अथवा किसी डायलॉग में एकाङ्की के गुण हों; लेकिन एकाङ्की तब तक एकाङ्की नहीं कहा जायगा, जब तक वह अभिनय की सभी माँगों को पूरा न करे। इसके अतिरिक्त किसी कहानी को एकाङ्की के ढाँचे में ढालना एक बात है, अभिनय के लिये एकाङ्की लिखना दूसरी बात। जिन्होंने देवदास अथवा कपालकुण्डला उपन्यासों को पढ़ा है और चित्रपट पर देखा है, वे अन्तर को आसानी से पहचान सकेंगे।

हिंदी का एकाङ्की—

हिन्दी-एकाङ्की का इतिहास गत दशवर्षों में सिमटा हुआहै। यों तो हिंदी के प्रेमी भारतेन्दु तक इसको खींच ले गये हैं—उनकी 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' के अङ्कों को दृश्यों में परिवर्तित कर उन्होंने उसे एकाङ्की बना डाला है। उधर उनके अपूर्ण प्रेमयोगिनी का भी नाम लिया जाता है, परन्तु सचमुच हिंदी एकाङ्की का प्रारम्भ प्रसाद के 'एक घूँट' से ही हुआ है। प्रसाद पर संस्कृत का प्रभाव है इसलिये वे हिंदी एकाङ्की के जन्मदाता नही कहे जा सकते, यह बात मान्य नहीं। एकाङ्की की टेकनीक का 'एक घूँट' में पूरा निर्वाह है—उतना ही जितना कमलाकान्त के 'उस पार' में—हाँ, उसमें प्रसादत्व का गहरा रङ्ग अवश्य है। 'एक घूँट' में प्रकृति के रूपरञ्जित पटल पर विवाह-समस्या का विवेचन और समाधान किया गया है।

'असंख्य जीवनों की भूलभुलैयाँ में अपने चिरपरिचित की खोज निकालना और किसी शीतल छाया में बैठकर एक घूँट पीना और पिलाना--प्रेम का एक घूँट। बस इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।'

एक घूँट का यही रहस्य है। भावुकता की दृष्टि से यह एक घूँट बड़ा तीखा है—उक्त उद्धरण के अन्तिम शब्दों पर दृष्टि डालिये। इस एकांकी में रूप-रङ्ग में विभोर, गहरी और उष्ण प्रसादीय भावुकता अनिवार्य रूप से मिलती है। हाँ, चंदुला की उपस्थिति रस-भंग अवश्य करती है, और मन पर प्रभाव की एकरसता में व्याघात उत्पन्न हो जाता है। 'आनन्द' जी की भावुक विचार-धारा भी नाट्य के लिये कुछ बोझल पड़ेगी।

रामकुमार वर्मा—

एक घूँट के उपरांत रामकुमारवर्मा के 'बादल की मृत्यु' का नाम आताहै। वर्माजी ने आठ-दस एकांकियों का प्रणयन किया है। रामकुमार कवि हैं—साथ ही विचारक और आलोचक। कवि जब विचारक और आलोचक होने लगता है तो उसको यथातथ्य (Precision) का मोह हो जाता है। और यह मोह उसे मूर्त-चित्रण की ओर प्रेरित करता है। इसका आवश्यक परिणाम यह होता है कि (अगर वह जीवन के संघर्ष से थोड़ा सा भी दूर है) उसकी कल्पना का वैभव सीमित होने लगता है वह स्वच्छन्द और उन्मुक्त उड़ान को भटकना मानकर लीक का अनुसरण करना श्रेयस्कर समझता है। एक शब्द में काँट-छाँट प्रारम्भ हो जाती है, भावोल्लास और कल्पना का बिखरा वैभव सिमटकर जैसे रेखाओं में सङ्कुचित होने का प्रयत्न करने लगता है। अंगरेजी के हाउसमैन और हिन्दी की महादेवी का इतिहास कुछ ऐसा ही है। ये लोग कभी-कभी प्रयत्न करने पर भी कोई बड़ी चीज नहीं लिख सकते। और अगर लिखते भी हैं तो वह

अत्यन्त शिथिल और निर्जीव हो जाता है। कवि रामकुमार ने निशीथ से रूपराशि होते हुए चित्ररेखा और चन्द्रकिरण तक इसी लीक पर चल कर यात्रा की है। उनके स्फुट रेखा-चित्र (गद्य पद्य दोनों में) और एकांकी साफ़ बता रहे हैं कि कवि में मुक्त उड़ान अब नहीं रही। अब तो वह गांठ खोलना चाहता है।

रामकुमार के नाटकों का आधार प्रायः सामाजिक रोमांस है। उनके मूल प्रश्न भद्र परिवार के उच्च शिक्षित व्यक्तियों के रङ्गीन जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। उनमें एक हलका-सा रूप मोह और तज्जन्य प्रेम का गुलाबी रङ्ग है। इन प्रश्नों में हृदय की वृत्ति न हो, यह बात नहीं, परन्तु फ़ैशन की चटक कुछ अधिक है। आधुनिक भद्र-जीवन का प्रेम, ईर्ष्या, सन्देह, असंतोष और दम्भ, जिसमें शिक्षा ने पॉलिश कर दी है, इन नाटकों में किसी न किसी रूप में मिलता है। जीवन की अनगढ़ वृत्तियों की सीधी तड़पन होने के कारण उनके परिणाम में यथार्थ नहीं है, उनका झुकाव एक नैतिक आदर्शवाद की ओर है जो इस समाज की प्रमुख शरण-भूमि है। उदाहरण के लिए 'परीक्षा', अथवा '१८ जुलाई की शाम' को लीजिये। उनका विकास जिस सचाई के साथ होता है, अन्त उतनी सचाई के साथ नहीं। अन्त में एक उपदेश-पूर्ण आदर्श के अनुसार वाक्यों और घटनाओं को मोड़ा गया है।

चारित्रिक द्वन्द्व—परन्तु रामकुमार के नाटकों की शक्ति घटना और घटना का विकास नहीं है—उनके नाटक चारित्रिक द्वन्द्व को लेकर उठते हैं। मन की फाँस को निकालना उनका काम है।

"इसके बाद कविता के साथ एकांकी नाटकों की भी रचना होती रही, किन्तु उसी समय जब मेरी इच्छा किसी ऐसे चरित्र के निर्माण की हुई, जिसे मैं अपनी अभिनयात्मक कविता में भी प्रदर्शित नहीं कर सकता था।"

'नहीं का रहस्य' में प्रो० हरीनारायण के मन में एक हल्की-सी 'नहीं' की फाँस है—और 'परीक्षा' के प्रो० केदार के मनमें

सदेह की, '१८ जुलाई की शाम' में ऊषा के मन में असन्तोष की कील-सी चुभी हुई है, इसी प्रकार 'एक तोले अफीम की कीमत' मे मुरारिमोहन के मन में भी मर्दित अभिलाषा की कसक है। लेखक इस फाँस को कवित्व की सुई से कुरेद कर, एक हल्का-मीठा दर्द पैदा करते हुये अन्त में बड़ी सफाई से निकाल देता है। प्रस्तुत नाटकों की रसानुभूति की यही व्याख्या है।

स्कैच —रामकुमार की लघुदर्शिनी शिल्प-प्रतिभा स्कैच खींचने में बड़ी प्रवीण है। उनके पात्रों के चरित्र केवल दो-दो, तीन-तीन लकीरों से खिचे हुये हैं—परन्तु एक दम स्पष्ट हैं। वे पात्र की प्रमुख विशेषता को चुनकर पहले एक गहरी तीखी रेखा खींच देते हैं, फिर दो एक हल्की-सी और, बस चित्र पूरा होगया; इस प्रधान रेखा को खींचने मे अधिकतर कवित्व और कभी-कभी व्यंग्य की भी सहायता ली जाती है:—

१—जगदीश, हरिभजन—ये दोनों सोमेश्वरचन्द्र के नौकर हैं, दोनों बड़े मेहनती हैं लेकिन अपने मालिक को प्रसन्न नहीं कर पाते। बड़ी संजीदगी से काम करते हैं।

२—राजेश्वरी—वस्त्रों में सरलता, मुद्रा में गम्भीरता......भौहों के बीच में रोली की नन्हीं-सी बिन्दी; ओठों की मिलन रेखा में जैसे मुसकान डूब गई है। अशोक को देखकर वह कुछ विचलित हो जाती है। आकर ऊषा को चुपचाप नमस्ते करती है।

टेकनीक— एकांकी की टेकनीक यों तो शत-रूपा है, परन्तु फिर भी स्थूल दृष्टि से हम उसके दो विभाजित कर सकते हैं। एक जिसमें विकास (development) की प्रमुखता है, दूसरे में विन्यास या उद्घाटन (exposition) की। पहले में एक क्रमिक उतार चढ़ाव के सहारे घटना अथवा चरित्र चरम परिणति तक पहुँचा है, और अन्त में जैसे एक गांठ-सी खुल जाती है; दूसरे में विकास का कोई स्पष्ट क्रम नहीं होता, उसमें तो घटनाओं

अथवा भाव विचारों की तहें खुलती चली जाती हैं और अन्त कहीं पर भी जाकर हो जाता है। पहला रूप जहां हमारी जिज्ञासा को उभार कर तुष्ट कर देता है, दूसरे में परितोष का कोई निश्चित् साधन नहीं होता। आपकी जिज्ञासा प्रायः बीच में उलझी रह जाती है, और वही उसकी सफलता है। पहले में वास्तुकौशल और दूसरे में मनोविश्लेषण की शक्ति होती है। रामकुमार के नाटकों में प्रायः पहली शैली को ही अपनाया गया है। उनके वस्तु विकास में विस्मय की झकोर और जिज्ञासा का खिचाव दोनों हैं। इनको उत्पन्न करने के लिए रामकुमारजी कृत्रिम एवं स्वाभाविक दोनों प्रकार के साधनों का उपयोग करते हैं: 'नारी की वैज्ञानिक परीक्षा' के साधन कृत्रिम और 'एक तोले अफ़ीम की क़ीमत' के स्वाभाविक हैं। साथ ही वास्तु-कौशल भी कुछ प्रसङ्गों को छोड़कर प्रायः सुघरा ही है। चारित्रिक द्वन्द्व को आधार मानकर उसके ऊपर जो नाटक का भवन निर्मित किया गया है, उसमें चाहे कला का अत्यन्त सूक्ष्म-सुन्दर रूप न मिले, परन्तु भद्दापन भी नहीं है। '१८ जुलाई की शाम' में मानसिक संघर्ष तीव्र हो जाने के कारण विकास और विन्यास दोनों शैलियों का समन्वय होगया है, 'रूप की बीमारी' में विन्यास ही है। इन नाटकों में एक दोष अत्यन्त स्पष्ट है—वह यह कि टेकनीक कहीं-कहीं अनावश्यक रूप से फैल गई है, ऐसा वहाँ हुआ है जहाँ लेखक या तो नैतिक उपदेश के चक्कर में पड़ गया है, या ज़ुबान के चटख़ारे ले उठा है। यह दोष बहुत बड़ा है—ख़ासकर इसलिये कि विस्तार रामकुमारजी की कला के स्वभाव के विरुद्ध है। इसीलिए ऐसे स्थलों पर नाटक की गति शिथिल हो गयी है। 'नारी की वैज्ञानिक परीक्षा' का अन्त जिस में एक ओर रहस्योद्घाटन और दूसरी ओर नारी का स्तुति-गान है, अथवा 'रूप की बीमारी' का मध्य जो अपने अर्थहीन वाग्विस्तार

के कारण भयङ्कर होगया है, मेरे कथन का समर्थन करेंगे। इस दृष्टि से 'एक तोले अफ़ीम की क़ीमत' एकदम पूर्ण है—अन्त में चपरासी का अफ़ीम माँग लेना नाटककार का मास्टर स्ट्रोक है।

अभिनय की दृष्टि से, ये सभी स्टेज पर सफल हो ही चुके हैं। इन नाटकों के सेटिंग रंगीन हैं और उनमें विदेशी झलक है। भाषा में कवित्व का मिठास होना स्वाभाविक है, साथ ही उसमें पात्र और परिस्थिति के अनुसार वैचित्र्य भी है : शुद्ध तत्सम हिन्दी; उर्दू हिन्दी, देशी हिन्दी, बंगाली हिन्दी, साहबी हिन्दी—सभी का यथास्थान पुट है, जिससे नाटक में चहल पहल बनी रहती है। रामकुमार स्वभाव से सौन्दर्य-शिल्पी हैं—अतः उनकी कला जीवन के एक विशेष हलके स्तर को छूती है—उनका निराशावाद रोमांटिक है। जीवन के तल में बैठ कर चोट पर उंगली रख देना उनके निराशावाद की परिधि से बाहर है।

उग्र—

एकांकी के जन्मदाताओं में उग्रजी का नाम भी स्मरणीय है। उन्होंने 'अफ़ज़ल-वध', 'उजबक', 'चार बेचारे' और 'भाई मियाँ' आदि एकांकी-नाटकों की रचना की है। उग्रजी इस युग के उन आरम्भिक व्यक्तियों में से हैं जिन्होंने आज से बहुत पहले रूढ़ि के विरुद्ध विद्रोह किया था। यह विद्रोह तामस की शक्ति लेकर आया, या यों कहे कि तामस में सत और महान का अन्वेषण और अवतरण उसका प्रयत्न रहा है। इस वर्ग में हैं कवि निराला, उग्रजी स्वयं, आचार्य चतुरसेन और बाद में भगवतीचरण वर्मा और भुवनेश्वर—आज अञ्चल का नाम लिया जा सकता है। ऐसा लिखने के बाद उग्रजी भी हमारे नीति-विधाताओं के शिकार बने, जिन्होंने दोनों हाथों से उन पर तिरस्कार और लाञ्छन की बौछार की। इसका परिणाम यह हुआ कि उनका

तामस निर्द्वन्द्व होकर सामने आगया। इन एकाङ्कियों में—उनके समस्त साहित्य में—एक फक्कड़पन है। उनके हास्य में उनकी आर्थिक कठिनाइयाँ और साहित्यिक तिरस्कार कठोर व्यंग्य करता है। वे साहित्य में जोश के हामी हैं और यह जोश इन रचनाओं में खूब मिलता है। परन्तु यह प्रायः वाणी का जोश अधिक है, हृदय, बुद्धि और आत्मा का जोश कम। उसके पीछे कोई गहरी विचार-धारा हमको नहीं मिली। यही कारण है कि उग्रजी लाञ्छन, भर्त्सना और उपेक्षा के बीच भी उस दृढ़ता और शक्ति से साहित्य-सर्जना नहीं कर सके जैसा कि निराला ने किया।

भुवनेश्वरप्रसाद—

भुवनेश्वरप्रसाद का कारवाँ भी आज से पाँच-छः वर्ष पूर्व निकल चुका था। भुवनेश्वर ने रामकुमार की अपेक्षा एकाङ्की को कुछ अधिक बल के साथ ग्रहण किया। भुवनेश्वरप्रसाद उन नवयुवकों में से है, जिनको दुनियाँ के चिकने-चुपड़े लोग विनष्ट (Wreck) कह सकते हैं। उन्होंने छोटे से जीवन में जो टक्करें खाई हैं, उनके परिणाम स्वरूप वे सन्देहवादी (Cynic) हो गए हैं। उनके ही शब्दों में 'सन्देह बुद्धि के लिए एक विश्राम है।' आज जीवन की किसी भी वस्तु में उन्हें आस्था नहीं। इस निरास्था की जननी ज्ञान-जन्य विरक्ति नहीं है, ईर्ष्या और जलन है—असफलता की कुढ़न है। इसलिए इनके हृदय में जीवन के प्रति उपेक्षा या तिरस्कार (करुणा तो सम्भव ही कहाँ ?) की भावना नहीं है—उसमें तो व्यंग्य और विष है—बटलर का-सा, कबीर का-सा नहीं। उस में न ही न है, हाँ कहीं नहीं।

जिस प्रकार जीवन असार और निष्फल है, उसी प्रकार कला भी। जीवन जीवन एक लजीली मुस्कान है, कला एक शुष्क और कठोर हास्य।

इसलिए वे प्रश्न कर सकते हैं, उत्तर उनके पास नहीं है—समस्या उठा सकते हैं लेकिन उसके समाधान में विश्वास नहीं करते। "एक समस्या को सुलझाना कई समस्याओं का सृजन करना है।" उनका अविश्वास आध्यात्मिक नहीं है, भौतिक है। उनकी अवस्था उस बहिष्कृत या तिरस्कृत प्रेमी की सी है जो अपनी प्रेमिका से निराश होकर समस्त नारी जाति से ही घृणा करने लगता है। लेकिन इस पतले-दुबले, अपने में ही संकुचित आदमी में गजब की शक्ति है। उसके नकार (Negation) में अपूर्व दृढ़ता है। इसीलिए उनके नाटकों की समस्या सभी जगह तीखी है। रामकुमार में जो बात नहीं मिलती वह भुवनेश्वर में कहीं भी देख लीजिए। "मनुष्य अपनी बुद्धि की स्थूलता से वस्तुओं का वास्तविक रूप छिपाए हुए है। मानव की यही एक समस्या है।" और आप सच मानें, लेखक ने इस स्थूलता को जैसे नाखूनों से चीर कर, जीवन की भीतरी चोट पर उँगली रख दी है। भुवनेश्वरप्रसाद की समस्या सैक्स तक ही सीमित है, लेकिन काम के साथ अर्थ भी लगा हुआ है। उन जैसा व्यक्ति शायद इन दो से आगे बढ़ भी नहीं सकता। 'शैतान' में आप उनकी फ़िलासफ़ी का प्रतिरूप देख लीजिए।

भुवनेश्वर ने भावुकता को कलाकार के लिए विष माना है। यदि भावुकता का अर्थ दया या करुणा हो तब तो निश्चय ही वे उससे दूर हैं लेकिन अगर भावुकता और कवित्व एक ही वस्तु हैं तो भुवनेश्वर भी औषधि की जगह विष ही पी रहे हैं। 'श्यामा' के मनोज पर उन्हें काफी ममता है, उनके चित्र कवित्व से मुखर होते हैं—उनकी चित्रमयी भाषा में कविता की व्यञ्जना गहरी और पैनी होती है। रोमांस से भी वे अछूते नहीं हैं।

भुवनेश्वर सफल टेक्नीशियन हैं। जीवन में वे आकस्मिकता को महत्व देते हैं—'संसार में बुद्धि का आविर्भाव किसी अचिन्त्य

आकस्मिक घटना से हुआ होगा।' अतः स्वभावतः ही 'अकस्मात्' उनकी टेकनीक का प्रमुख अङ्ग है। इन एकाङ्कियों में ड्रैमेटिक टर्न (नाटकीय प्रयोग) आपको स्थान स्थान पर मिलेंगे। वस्तु की चरम सीमा साफ़ है, वहाँ भी 'अकस्मात्' का चमत्कार है। इसलिये इन नाटकों में आपको पूर्वपीठिका बिल्कुल न मिलेगी। सभी वाक्य आगे को चलेंगे, पीछे की उन्हें कोई चिन्ता नहीं—कभी-कभी इससे थोड़ी-सी जिज्ञासा पाठक को क्षुब्ध करती है, और वह घटना को पूरी तरह आसानी से नहीं समझ पाता। 'रोमाञ्चः रोमांस' का पुरुष हमारे लिये अन्त तक खासी पहेली बना रहता है। 'स्ट्राइक' में भी पात्रों के व्यक्तित्व अन्त तक रहस्य में लिपटे रहते हैं। ट्रेजिक परिस्थिति का सृजन करने के लिये नाटककार काफी सतर्क होकर वातावरण का अङ्कन करता है।

पूर्व परिचित कुलियों की बस्ती। जैसे किसी ने अभिमन्त्रित कर निर्जीव कर दी हो। मकानों के आगे या विचित्र जगह मजूर बैठे विषय के समान ताड़ी पी रहे हैं, बच्चे कभी डर से, कभी माता की झुंझलाहट से और कभी एक अज्ञात आशंका से रो देते हैं, और वह स्वर ऐसा ही तीव्र है, जैसा दोपहर की नीरवता में चीलों का चीकना। मावी के समान आशंका की दृढ़ता सब के मुख पर अङ्कित है। मध्याह्न के प्रखर आतप में जैसे विश्व मुमूर्षु प्राय हो रहा हो।"

भुवनेश्वर पर अँग्रेजी का प्रभाव स्पष्ट है। शा की व्यंग्य-वक्रोक्तियों ने उन्हें विशेष रूप से आकर्षित किया है—उनकी कथावस्तु शैली और विचारधारा पर भी शा का बहुत कुछ प्रभाव है। कारवाँ का उपसंहार देखिये और शा के नाटकों की भूमिका से उसे मिलाइये। फिर भी शा प्यूरिटन सुधारक हैं—भुवनेश्वर कला को निरुद्देश्य एवं निष्फल मानते हैं और

फिर शक्ति उनका अपना स्वाभाविक गुण है। वह उधार नहीं ली जा सकती।

गणेशप्रसाद द्विवेदी—

भुवनेश्वर के कठोरसंदेहवाद के उपरान्त गणेशप्रसाद द्विवेदी का कलामय सौन्दर्य्य-चिन्तन मन को विश्राम देता है। वे ऐस्थीट है—'नाटक के रूप में कोई सुन्दर वस्तु निर्माण करना ही' उनका ध्येय है। अतः वे रङ्गमञ्च और नाटक का अभिन्न सम्बन्ध नहीं मानते, नाटक को उन्होंने उसके स्वरूप के आकर्षण के कारण ही ग्रहण किया है, क्योंकि पात्र के मानस का विश्लेषण करने के लिए वह सब से अधिक उपयुक्त माध्यम है। द्विवेदीजी के एकाङ्की सभी एक विषय को लेकर चलते हैं : स्त्री-पुरुष का आकर्षण जो सूक्ष्म भावुकता के रङ्ग में रङ्गा हुआ है। इस प्रेम में सर्वत्र वैषम्य है—प्रायः वैवाहिक वैषम्य, परन्तु इसके लिए समाज अथवा परिस्थिति उत्तरदाई नहीं है—यह एकदम मनोवैज्ञानिक है—अर्थात् लेखक ने इसे एक सामाजिक समस्या न बना कर मानव-मनोविज्ञान की चिरन्तन जटिलता माना है, और उसी दृष्टि से उसका विश्लेषण किया है—केवल विश्लेषण, मानो वह उसके स्वरूप को ही समझा सकता है कारण को नहीं। कारण के विषय में तो वह मानवीय चिरन्तन सत्यों की स्वतः सिद्धि को स्वीकार किये बैठा है। द्विवेदीजी ने प्रेम के सूक्ष्म—प्रायः मानसिक रूप को ही ग्रहण किया है, वे प्रेम को एक स्थायी, एवं गहन-तीव्र मनोवृत्ति मानते हैं, परन्तु उनमें आदर्शवादिता नहीं है। स्त्री के प्रणय में जहाँ जीवनव्यापी चाह है, समर्पण है, वहाँ ईर्ष्या, प्रतिहिंसा, प्रतिग्रहण की उत्कट लालसा भी है; इसी प्रकार पुरुषके प्रेम में जहाँ सहन करने का बल है, वहाँ सन्देह, घृणा, दर्प और साथ ही दुर्बलता भी है। लेखक ने परदे के दोनों पार्श्वों को

सामने रखा है :—

'वास्तविक प्रेम कभी मिटता नहीं, चाहे उसका पात्र या पात्री जघन्य से जघन्य आचरण क्यों न करे। सिर्फ एक प्रकार का पट-परिवर्तन मात्र हो जाता है। पट के दोनों ही ओर जीवन की सामग्री है और दोनों ही का दर्जा बराबर का है। फर्क सिर्फ इतना ही है कि एक ओर अगर प्रेम के दृश्य या करिश्मे हैं, तो दूसरी ओर घृणा के। एक तरफ अगर प्रेम है तो दूसरी तरफ घृणा; पहला जितना चित्र-विचित्र और गहरा होता है दूसरे को भी ठीक वैसा ही होना पड़ेगा।'''दूसरे शब्दों में, यह असम्भव है कि जिसे सचमुच प्यार कर चुके हों, उसके प्रति किसी भी परिस्थिति में एकदम निर्विकार हो जाँय। और, यदि ऐसा हो जाय, तो उसका अर्थ यह होगा कि वह सचमुच प्यार या प्रेम नहीं था, कोई और ही चीज रही होगी।

स्त्री-पुरुष का स्वभाव नाटककार के लिए आर्थिक कारणों से गढ़ा हुआ नहीं है—वह प्रकृति का गढ़ा हुआ है। अतः वह स्त्री और पुरुष की प्रेमाभिव्यक्ति की पृथक रेखाएँ स्पष्ट खींच सकता है। इन एकांकियों में दोनों का पृथक् विश्लेषण है, 'सुहाग बिन्दी', 'दूसरा उपाय ही क्या है', 'सर्वस्व-समर्पण' में स्त्री के मन का विश्लेषण है, 'वह फिर आई थी', 'परदे का अपर पार्श्व', 'शर्माजी मे' पुरुष के मन का। और अन्तिम एकाङ्की 'कॉमरेड' में दोनों के चित्र आमने सामने हैं। स्वभावतः ये सभी एकाङ्की स्कैच हैं, उनमें अधिकांश एकाङ्कियों की भाँति चरित्र की प्रधानता है—कुछेक में तो घटनाएँ जैसे हैं ही नहीं। परन्तु मन के सूक्ष्म विश्लेषण में द्विवेदीजी सभी को पीछे छोड़ देते हैं, उन्होंने अत्यन्त सतर्कता से चित्रों को एकहरा रखा है, इसी कारण उनमें तीव्रता अनिवार्य रूप से विद्यमान है। द्विवेदी जी कला-रसिक हैं, संगीत जैसी कला से घनिष्ट एवं दैनिक परिचय होने के कारण, वे कला के स्वरूप को अत्यन्त कोमल मानते हैं—इतना कोमल कि टेकनीक भी उसके लिये भार हो

जाती है इसीलिए उन्हें इस प्रकार की कुछ भूलों की भी विशेष चिन्ता नहीं है। 'शर्माजी' एकांकी में दो पात्र टेलीफोन पर काफी देर तक इस प्रकार बात करते हैं जैसे प्रत्यक्ष ही वार्तालाप होरहा हो--बीच में एक्सचेंज भी 'हर्री अप प्लीज़' कह देता है। टेलीफोन का मञ्च पर प्रयोग होता है—पर उसके द्वारा दो चार बातें ही सम्भव हैं—प्रायः मञ्च पर उपस्थित व्यक्ति स्वयं ही पहले मानो आश्वस्त होने के लिए दूसरे की बात को दुहरा देता है, और फिर उसका उत्तर देना प्रारम्भ कर देता है। 'भाग्यचक्र' और सेठ गोविन्ददास के कतिपय नाटकों में ऐसा प्रयोग किया गया है। परन्तु यह भी देर तक नहीं हो सकता।—इसके अतिरिक्त द्विवेदीजी का आन्तरिक विश्लेषण जितना सतर्क और सच्चा है, वाह्य निरीक्षण उतना नहीं। उनके सैटिंग में इस प्रकार की कुछ विचित्र त्रुटियां हैं।

जीवन की भाँति कला में भी दो विशेषताएँ दृष्टव्य हैं : एक सूक्ष्मता, दूसरी शक्ति। द्विवेदी जैसे रसज्ञ की कला सूक्ष्मता की ओर जितनी बढ़ सकी है, उतनी शक्ति की ओर नहीं—यह स्वाभाविक है। वे एक बारीक तत्व को पकड़ते हैं और उसको मनोविज्ञान की सहायता से तीक्ष्णतर करते हुए अत्यन्त कौशल के साथ चरम सीमा तक ले जाते हैं। उनके विकास में कहीं भी असङ्गति नहीं आने पाई क्योंकि स्थूलता नहीं है, उसका निर्वाह एकदम कलापूर्ण है। द्विवेदीजी की दृष्टि में मन के स्तर खोलने की क्षमता है, और वाणी में उसका रसमय वर्णन करने की। वे सचमुच मेआहत मन के कवि-कलाकार हैं।

उपेन्द्रनाथ अश्क—

उपेन्द्रनाथ अश्क जैसा वे स्वयं कहते हैं जीवन के निर्माता नहीं आलोचक हैं। अश्कजी ने जीवन को देखा है, परन्तु एक

विशेष प्रकार के जीवन को, और एक विशेष मनोवृत्ति अथवा दृष्टिकोण लेकर। उन्हें जीवन के काँटों पर चलना पड़ा है, अतएव उनकी आँखों में सतर्कता आ गई है और काफ़ी सफ़ाई से वे अपने तत्काल (immediate) को देख सकते है। अश्क का ध्यान इसी 'तत्काल पर सदैव केन्द्रित रहा है—तत्काल को जल्दी से देखकर सफ़ाई से उसमें से निकल जाना, यह उनके जीवन का ध्येय तो क्या, परन्तु क्रम अवश्य रहा है। इसके लिए वे बहुत गहरे नहीं सोचते, स्वभावतः गहरी समस्याओं पर गहरा विचार करने की क्षमता उनके नाटको में नही है। उनमें एक चलती दुनियादारी है, जिसमें विशेष तर्क-वितर्क नहीं है, परन्तु लेखक के अपने कटु अनुभवों के कारण स्थान-स्थान पर चोट अवश्य है। इनके नाटकों का क्षेत्र प्रायः पञ्जाब का साधारण मध्यवर्ग है जिसके अस्त-व्यस्त जीवन में प्रायः नातिगहन सामाजिक समस्याएँ उठती हैं—जैसे विवाह की उलझन, पारिवारिक दायित्व के प्रश्न, जो ज्यादा बुनियादी मसले नही हैं। इन समस्याओं को लेखक ने छूकर छोड़ दिया है—उनका विवेचन और समाधान नहीं किया। परन्तु इन सीमाओं का निर्देश कर देने के बाद, अपनी परिधि में अश्क की सफलता अत्यन्त स्पष्ट है। उनकी विधि में किसी प्रकार का उलझाव और उनके कार्य में किसी प्रकार की घबराहट नहीं है। बड़ी सफ़ाई और इतमिनान से—कहीं-कहीं कारीगरी का भी उपभोग करते हुए, वे समस्याओं को खोल कर रख देते है। 'लक्ष्मी का स्वागत', 'छठा बेटा' और हल्की कृतियों में 'पहेली' इसका उदाहरण हैं। 'अधिकार रक्षा' में यह समस्या कुछ अधिक स्थूल और व्यक्त हो गई है और देवताओं की छाया में छत गिरने के ऐक्सीडेंट पर ही सोलहो आने निर्भर रहने के कारण विश्वसनीयता कम हो गई है।

यह स्वाभाविक ही है कि अश्क ने जीवन के आलोचक को

हैसियत से व्यंग्य और हास्य का प्रयोग किया है। परन्तु इस व्यंग्य में क्रोध और घृणा, एवं इस हास्य में दर्प का प्रायः अभाव है। ऐसा दो अवस्थाओं में होता है: एक तो तब जब आलोचक जीवन के तथ्य को उसकी सम्पूर्ण विषमताओं के सहित स्वीकार कर चुका हो, दूसरे ऐसी दशा में जब वह उनके समाधान के विषय में चिन्तित न हो—उनको देख समझ कर अन्त में विनोद में ही टालना अधिक पसन्द करता हो जैसे उलझनों से माथापच्ची करने की अपेक्षा, उनको विनोद की सामग्री बना लेना ही अधिक श्रेयस्कर हो। अश्क का दृष्टिकोण ऐसा ही रहा है: पहेली, जोंक, समझौता, छठा बेटा, स्वर्ग की झलक आदि मे यह बात स्पष्ट मिलती है। हाँ 'लक्ष्मी का स्वागत' और 'किरण' के व्यंग्य में करुणा का तीखापन आगया है—पर ऐसा, व्यक्तिगत स्पर्श के कारण ही हुआ है।

अश्क ने स्टेज की टेकनीक का दावा बड़े जोर से किया है—और सचमुच आज के देखे उनका यह दावा बहुत कुछ सच है। उनका नाटक और रङ्गमञ्च दोनों का टेकनीक से घनिष्ट परिचय है। छठा बेटा उनके तद्विषयक प्रयोगों की सफलता का प्रमाण है—इसमें उन्होंने बड़े कौशल से स्वप्न नाटक के भ्रम को निबाहा है। इसके अतिरिक्त उनके पात्र और दृश्य के चित्रण में प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता है, एकाध स्थान पर विदेश के इम्प्रेशनिजम का भी हल्का-सा प्रयोग है—

"वहीं चौखट के साथ खड़े देव के चेहरे पर वही शरद का सूरज मुस्कराता है।"........

नाटक के विकास में अश्क प्रायः क्रम का अनुसरण करते हैं—इनकी घटनाएँ साधारणतः तीर की तरह नहीं छूटतीं, हलके हलके आगे बढ़ती हैं। अतएव उनमें तेज उतार-चढ़ाव नहीं, एक सुख-सरल क्रम विकास (gradual opening) है।

जहाँ कहीं ये तेजी लाये हैं, वहीं नाटक में असम्बद्धता आ गई है—'समझौता' मेरी गवाही देगा। उसका अन्त इसी कारण बिगड़ गया है क्योंकि नाटक का क्रम उस अन्तिम भारी चोट को सहन नहीं कर सकता और लड़खड़ा जाता है; 'विवाह के दिन' में भी यही बात है। इसके विपरीत 'जोंक' या 'पहेली' की टेकनीक की सफलता का रहस्य उसका क्रम-निर्वाह ही है। अश्क ने सतर्कता से स्टेज व्यावहारिक बनाने का प्रयत्न किया है, इसी कारण उनके सैटिङ्ग साफ़ और सादे हैं। मञ्च-प्रभाव को वे काफ़ी समझते हैं और उसको तीव्र करने के लिए सदैव उपयुक्त साधनों का प्रयोग करते हैं। 'छठा बेटा' मे जैसे उन्होंने स्वप्न नाटक के भ्रम को बनाए रखने के निमित्त, बार-बार वसन्तराम को सोता हुआ दिखलाया है। जिसके कारण दर्शक के मन से स्वप्न की बात नहीं निकलने पाती और स्वप्न-नाटक का उद्देश्य पूरा हो जाता है। इसके साथ ही, बिना विशेष काट-छाँट के उनके नाटक स्टेज पर आ सकते हैं, क्योंकि उनमें मञ्च-सम्बन्धी असङ्गतियाँ एकाध ही हैं : छठा बेटा में जैसे चूहे का किटकिट करना प्रदर्शन की दृष्टि से अव्यवहार्य है—अथवा वसन्तराम के बेटों की आकृति-प्रकृति का वर्णन—जो केवल पाठक के ही मतलब की चीज है। परन्तु ऐसा विदेश के लब्ध-प्रतिष्ठ लेखकों ने भी किया है—क्योंकि एक तो इससे डाइरेक्टर को रङ्गमञ्च पर उपयुक्त वातावरण उपस्थित करने में आसानी रहती है, और दूसरे सचमुच नाटक का दुहरा प्रयोजन भी है—वह दृश्य के अतिरिक्त पाठ्य भी है ही।

अन्य एकांकीकार—

बड़े नाटकों के बाद पं० उदयशङ्कर भट्ट ने आठ दस एकांकियों का सृजन किया है। 'अभिनव-एकाङ्की' नाम से उनका एक संग्रह भी प्रकाशित हो चुका है। जैसा मैं पहले ही कह आया हूँ,

भट्टजी युगधर्म से प्रेरित हो कर अब कुछ दिनों से अपने आस पास के जीवन की ओर आकृष्ट हुए हैं। 'कमला' के साथ शायद उन्होंने आज के सामाजिक जीवन का आँचल पकड़ा है। उनके एकाङ्की भी प्रायः इसी जीवन की समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं। नेता, वर-निर्वाचन, उन्नीस सौ पैंतीस, सेठ लाभचन्द, आदि नाटकों में समस्या की विभिन्नता होते हुए भी एकबात समान है—मन को छूने की विधि। हमारे आज के परिवर्तनकालीन समाज की ऊपरी सतह में जो दंभ है, वह भले ही हमें कुछ हास्यास्पद लगे, लेकिन विश्लेषण करते समय हमें अनुभव होगा कि उस दंभ के नीचे एक दयनीय व्यथा छिपी हुई है। इन चारों एकांकियों के मूल में आपको यही सत्य मिलेगा। 'नेता' में पुरुषोत्तम के वाग्दम्भ के पीछे दयनीय असमर्थता है, 'उन्नीस सौ पैंतीस' में सुरेन्द्र के शिक्षादम्भ के पीछे उसकी दीनता का चित्र है, वर-निर्वाचन' में शारदा और उसके बैरिस्टर पिता के बड़प्पन' के दम्भ के पीछे शारदा की दुर्बलता है, उधर लाभचन्द की धन लिप्सा एवं व्यवसाय कौशल के पीछे उनकी असफलता की व्यथा है। ऊपर एक हँसी, या व्यंग्य लेकिन नीचे एक हल्की-निराशा—यही इन नाटकों की व्याख्या है।

भट्टजी के एकांकी टेकनीक की दृष्टि से उनके बड़े गद्य-नाटकों की अपेक्षा अधिक सफल हैं। उनकी इन छोटी रचनाओं में कथा संकोच एवं एकाग्रता के आग्रह से कल्पना का विलास कम, और नाटकीय संवेदना का स्पन्दन अधिक स्पष्ट हो गया है।

सेठ गोविन्ददास के दो एक एकाङ्की स्वतन्त्र रूप में और अनेक समय समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। उनके एकाङ्कियों का संग्रह सप्त-रश्मि नाम से प्रकाशित हुआ है। मैं उनके बड़े नाटकों के विवेचन में कह आया हूँ कि सेठजी की समस्याएँ प्रायः हमारे भद्र जीवन (aristocracy) की समस्याएँ

हैं, जिनके साथ गांधी-युग की राजनीतिक समस्याएँ भी लगी हुई हैं। नाटक की समस्या को प्रखर बुद्धि द्वारा सुथरे रूप में ग्रहण करने की क्षमता इनकी असंदिग्ध है, परन्तु एकाङ्कियों की संकुचित भाव-भूमि में, जैसा कि होना चाहिए था, यह क्षमता और अधिक तीव्र नहीं हो सकी। एकांकी के क्षेत्र में सेठजी का महत्व प्रधानतः उनके मोनोड्रामा—एकपात्री नाटकों के कारण है। इन्होंने इस प्रकार के कई नाटकों की सृष्टि की है—शाप और वर, सृष्टि और प्रलय, अलबेला आदि। इनकी रचना-शैली आधुनिक है: प्रायः नील आदि के अनुकरण पर, ब्राउनिंग के ढ पर नहीं। अतएव ये स्वगत मात्र नहीं हैं। इनमें कहीं घोड़े को सम्बोधित करता हुआ, कहीं लेखनी आदि को ही, कहीं किसी अन्य मूक व्यक्ति के साथ, और किसी प्रसंग में नोटबुक में लिखे हुए अपने स्वगत विचारों को ही पढ़ता हुआ, विशेष पात्र मञ्च पर प्रकट होता है। सेठजी का, और उनके साथ हिन्दी का मोनो-ड्रामा अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है। उनमें कवित्व-शक्ति (जो मोनोड्रामा का प्राण है) अपेक्षा कृत क्षीण होने के कारण, साथ ही बहुत अधिक लिखने के कारण भी, सर्वत्र ही वाञ्छित शक्ति एवं सूक्ष्मता नहीं आ सकी। परन्तु इनका 'शाप और वर' एक अपूर्व कृति है—यह दो भागों में विभक्त है—(१) शाप, (२) वर। इसमें भारत के दाम्पत्य जीवन के दो विपरीत चित्र हैं—पहला वैभव-मंडित भद्र-समाज का, दूसरा सन्तोष-धनी निम्न वर्ग का। इन दोनों में दो पात्र हैं स्त्री और पुरुष। स्त्री उत्तेजित वक्ता है, पुरुष मूक जिह्वा-बद्ध श्रोता, पहले में अपने पाप की चेतना के कारण, दूसरे में सन्ताप के भार से दबा हुआ। कलाकार ने इस नाटक में मनोविश्लेषण एवं वैषम्य का अत्यन्त सुन्दर प्रयोग किया है। यह वैषम्य दोनों चित्रों में, अनेक रूप में, परि-स्थिति, शब्द, और अवसान सभी में समानान्तर रूप से चलता

....

है। वास्तव में यह नाटक हिन्दी में अपने ढंग का एक है—अद्वितीय।

इसके अतिरिक्त एकांकी की लोकप्रियता ने हिन्दी के कतिपय और भी मान्य कलाकारों को आकृष्ट किया। जैनेन्द्रजी ने 'टकराहट' लिखा। भगवतीचरण वर्मा ने 'संसार का सबसे बड़ा आदमी' और 'दो कलाकार', अज्ञेय ने 'चित्रकर्मा', कमलाकान्त वर्मा ने 'उस पार'। इन नाटकों में अपने लेखकों की स्वीकृत विशेषताएँ हैं—उदाहरण के लिए टकराहट में आध्यात्मिक अन्तर्द्वन्द्व का निर्मम विश्लेषण है, भगवती बाबू के नाटकों में अदम्य विद्रोह-बल, चित्रकर्मा में कलापूर्ण अभिव्यक्ति। अल्प-परिचित लेखकों में श्री० जगदीशचन्द्र माथुर का भविष्य अत्यन्त उज्वल है।

इस प्रकार गत दस वर्षों में हिन्दी का एकांकी एक खासी अच्छी मंज़िल पार कर चुका है। उसके मूल में फ़ोर्म का आकर्षण तो है ही, साथ ही मञ्च का आग्रह भी है। आज कॉलिज और क्लब के स्टेज पर उसकी मांग बढ़ती जा रही है—स्वभावतः उसकी सीमा में विस्तार हो रहा है और सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं से विशेष लगाव होने पर भी, विचित्रिता की कमी नहीं है। आज हिन्दी में समस्या-एकांकियों के अतिरिक्त रोमांटिक और ऐतिहासिक एकाङ्की कवित्वमय फैंटेसी मोनोड्रामा, प्रहसन आदि—उसके अनेक रूप मिलते हैं। टेकनीक में नवीनता है और फ़ैशनेबिल चित्रमयता बढ़ रही है। हिन्दी के रंगमञ्च का निर्माण करने में एकाङ्की की सेवाएँ अमूल्य होंगी।

स्वतन्त्र नाटक

अब कुछ नाटक रह जाते हैं—जो किसी भी वर्ग में समाहित होने से इन्कार करते हैं।

कर्तव्य —

सेठ गोविन्ददास के कर्तव्य नाटक का स्वतन्त्र महत्व है। हिन्दी में वह शैली की दृष्टि से एकदम नवीन और मौलिक रचना है। कर्तव्य के दो भाग हैं--पूर्वार्ध में राम की कथा है, उत्तरार्ध में कृष्ण की। इस प्रकार उसमें कर्तव्य के दो प्रतिरूप चित्रों का अङ्कन किया गया है—एक अभावात्मक (negative) दूसरा भावात्मक (positive)। राम और कृष्ण का उद्देश्य एक ही है —लोकहित। परन्तु इसकी पूर्ति-प्रणाली भिन्न है। राम मर्यादा की रक्षा के लिये अपने को मिटा देते हैं, कृष्ण सत्य की रक्षा के लिये मर्यादा की शृंखला चट से तोड़ देते हैं। अतएव राम के लिये कर्तव्य पालन आत्म-बलिदान है, आत्म-हनन है, कृष्ण के लिये स्वाभाविक क्रिया। परिणाम-स्वरूप जहाँ राम सदैव आँसू बहाते हैं, वहाँ कृष्ण सर्वत्र हँसते रहते हैं। ऊपर से देखने में इन दोनों रूपों में वैषम्य ही स्पष्ट दिखाई देता है—पर

वास्तव में कृष्ण का चित्र राम के चित्र का पूरक है। राम जहाँ समाप्त कर देते हैं कृष्ण वहीं से आरम्भ करते हैं। राम महत् से महत्तर होते हुए भी कामना से मुक्त नहीं हो पाते, किन्तु कृष्ण जीवन का प्रारम्भ ही निष्काम होकर करते हैं। इसीलिए राम की अपेक्षा उनमें ब्रह्म की दो कलाएँ अधिक मानी गई हैं, राम अपूर्ण हैं, कृष्ण पूर्णावतार। सिद्धान्त रूप में कर्तव्य इसी नाटक का बौद्धिक व्याख्या करता है।

नाटककार ने बड़ी सावधानी और सफाई से राम और कृष्ण के जीवन की सभी प्रमुख घटनाओं को समाविष्ट किया है परन्तु फिर भी स्थान-स्थान पर उसका प्रयोग कुछ अधिक व्यक्त हो गया है और इसलिए कौशल की हानि होगई है। जैसा कि उद्देश्य से ही स्पष्ट है, लेखक का कार्य सृजन करना नहीं, व्याख्या करना ही है, और राम और कृष्ण के अति-प्राकृतिक एवं अति-मानवीय कृत्यों की बौद्धिक व्याख्या करने में वह प्रायः सफल भी हुआ है। सीता की अग्नि परीक्षा के विषय में उसकी उद्भावना मौलिक और सुन्दर है--पर सभी जगह ऐसा नहीं हो सका। कहीं-कहीं उसकी युक्तियाँ असमर्थ और अतिरञ्जित हैं।

नाटक की मूल प्रेरणा है, लोक-जीवन मे कर्तव्य-पथ की पीड़ा जिसका लेखक के अपने जीवन से सीधा सम्बन्ध रहा है। उसने मानो अपने समझने के लिए ही यह नाटक लिखा है। इसीलिए आपको नाटक में एक टीस जरूर मिलेगी—घटनाएँ सभी दुःखान्त हैं–अर्थात् कर्तव्य-पथ तो सदा दुःख से घिरा हुआ रहेगा, यात्री को ही अपना हृदय कड़ा करना पड़ेगा। क्या यह मूल-धारणा ही स्वयं करुण नहीं है?

इस नाटक की टेकनीक का महत्व मौलिक है। वैषम्य (Contrast) नाटक का चिरपरिचित प्रयोग है। घटना और चरित्र के वैषम्य का उपयोग तो स्वदेश विदेश के नाटककारों ने

प्राय: किया है—परन्तु यहाँ यह वैषम्य और अधिक व्यापक होकर सम्पूर्ण चित्र में ही व्याप्त हो गया है। इतना अवश्य है कि इसको ग्रहण करने के लिए दर्शक को बुद्धि पर काफी ज़ोर देना पड़ेगा क्योंकि बिना ऐसा किए उसके मन पर एक प्रभाव न पड़ कर द्विधा उत्पन्न हो जायगी। कर्तव्य के कुछ चित्र काफी चमकते हुए हैं।

विकास—

सेठजी का नाटक विकास भी श्रेणी-बन्धन स्वीकार नहीं करता। सेठजी ने इसे नाटकीय सम्वाद कहा है—इसलिए कि यह रङ्गमञ्च के लिए अनभिनेय है। परन्तु सचमुच यह बात नहीं—यह तो ठीक ही है कि इसमें तात्विक सम्वादों की बहुलता होने के कारण, कार्यव्यापार बहुत कम है, परन्तु इसका दृश्य-विधान इतना रूप-रञ्जित और चित्र-विचित्र है कि रजत-पट पर वह एक नवीन आकर्षण के साथ प्रदर्शित किया जा सकता है। इस नाटक में सैटिङ्ग और प्रदर्शन का ही महत्व है, अन्य तत्व-कथा, चरित्र-चित्रण और द्वन्द्व इसमें नहीं हैं। अध्ययनशील लेखक ने भारत, चीन और रोम के वैभव के अद्भुत दृश्य उपस्थित किए हैं—उनमें सूक्ष्म-चित्रण के साथ ही ऐतिहासिकता भी है। उत्थान और पतन के विपरीत चित्र वैषम्य के द्वारा दृश्य-विधान के आकर्षण को द्विगुण कर देते हैं।

'विचार' की दृष्टि से यह सृष्टि के क्रम-विकास की आलोचना करने-वाला स्वप्न नाटक है। एक रात को कोई दम्पति सृष्टि-विकास पर बहस करते-करते सो गए। स्वप्न में यही सम्वाद मूर्त रूप में पुरुष के सम्मुख उपस्थित हो जाता है जिसमें वह स्वयं आकाश का रूप धारण करता है और स्त्री पृथ्वी का। पृथ्वी का मत है।

'पतत नियति से निश्चित इसका पतन और उत्थान।'

अर्थात् समस्त पृथ्वी चक्रवत घूम रही है और इस समय पतन की ओर अग्रसर है। परन्तु आकाश इसका प्रतिवाद करता है, उसका निश्चय है कि समस्त सृष्टि सामुहिक रूप से निरन्तर उत्थान की ओर जा रही है—अतः विकास ही इसका निश्चित पथ है। पृथ्वी और आकाश दोनों ही अपने मत की पुष्टि में मानव-इतिहास से उद्धरण देते हैं—आकाश मानव के उत्थान के और पृथ्वी उसके पतन के। ये उदाहरण बुद्ध के समय से लेकर आज तक के हैं। उत्थान-पतन का अर्थ आध्यात्मिक है—अर्थात् सृष्टि की एकता का अनुभव करते हुए पाशव-वृत्तियों का दमन करना उत्थान है, पतन इसके विपरीत पाशव—वृत्तियों से पराजित हो कर स्वार्थ-साधन में लीन होना है- एक शब्द में उत्थान का अर्थ गाँधीजी द्वारा प्रतिपादित अहिंसा है, पतन का अर्थ हिंसा। और इसी रूप में विकास का आशय भी समझना होगा। संसार निरन्तर उन्नति की ओर अग्रसर है—अथवा उत्थान और पतन के चक्र पर चढ़ा हुआ उत्थान की एक निश्चित सीमा पार करने के बाद अब पतन की ओर बढ़ रहा है—इस प्रश्न का लेखक निश्चित उत्तर नहीं दे सका, और सचमुच कौन दे सकता है? अतएव उसने सावधानी से इसका पर्यवसान आकाश पृथ्वी के मत-भेद में ही किया है—यद्यपि वह स्वयं शायद आकाश की भाँति विश्व के सामूहिक विकास में विश्वास करता है।

नाटक में स्वप्न-नाटक की टेकनीक का पूरा निर्वाह है। लेखक ने बड़े हल्के हाथों से धीरे धीरे सपने का पर्दा उठाया है, पहले छायाकृतियाँ प्रकट होती हैं, फिर क्रम से उनमें रङ्ग भरता जाता है और अन्त में सपने की समाप्ति भी बड़े कौशल के साथ होती है। यहाँ नाटककार यह संकेत देना नहीं भूलता कि नायक बहुत

रात गए तक अपनी पत्नी से सृष्टि-विकास की बात करता रहा था—और यह संकेत सफाई से स्वप्न नाटक की व्याख्या कर देता है। परन्तु यह नाटक टेकनीक की दृष्टि से केवल स्वप्न-नाटक ही नहीं है। इसमें एक और नवीन प्रयोग मिलता है। आप देखें कि 'विकास' में स्थूल घटनाओं का प्रत्यक्ष नियोजन नहीं है। इसमें विभिन्न दृश्य ही हैं और इन दृश्यों में जो घटनाएँ आती हैं वे अपना प्रत्यक्ष महत्व न रखने के कारण कथावस्तु को आगे नहीं बढ़ातीं वरन् युक्ति-प्रतियुक्ति की अभिव्यञ्जक होने के कारण विचार को ही आगे बढ़ाती हैं। इस प्रकार ये दृश्य दोहरा प्रयोजन रखते हैं—१, चित्र-विचित्र वातावरण उपस्थित करने का २, मूल विचार की युक्तियों का अभिव्यक्त करने का। साधारणतः इस नाटक में मूल विचार की ही एकता होती—न कथा की, न काल की, न स्थान की, परन्तु कुशल नाटककार ने स्वप्न-नाटक की टेकनीक से लाँघ कर इस संकलन-त्रय का भी समावेश कर दिया है, और नाटक की अन्विति दुहरी हो गई: पहले आकाश और पृथ्वी का विवाद इन बिखरे चित्रों को समवेत करता है, फिर पुरुष का स्वप्न उसे एक बार मजबूती से कस देता है।

अश्क ने अपने 'छठा बेटा' में स्वप्न-नाटक की टेकनीक को और सार्थक रूप में प्रयुक्त किया है। वहाँ वह मनुष्य के अन्तर्चेतन में आप से आप होने वाली इच्छापूर्ति Wishfulfilment की अभिव्यञ्जना करता है, और इस कारण उसमें स्वप्न-विज्ञान का प्रयोग अपेक्षा-कृत गहनतर है।

भाग्य-चक्र (धूप-छाँह)—

सुदर्शनजी का नाटक भाग्य चक्र या धूप छाँह स्क्रीन पर सफलता प्राप्त कर चुका है। इस नाटक को भी हम किसी परिधि

में नहीं बाँध सकते। उसकी समस्या का क्षेत्र सीमित न हो कर मानवता तक फैला हुआ है। मानव जीवन की धूपछाँह की तस्वीर यहाँ मिलती है। नाटककार ने हमारे सामने दो चित्र रखे है। हीरालाल संसारी है, सूरदास वैरागी। एक ही घटना संसारी हीरालाल को वैराग की ओर और वैरागी सूरदास को संसार की ओर खींच लाती है, एक के जीवन की धूप दूसरे के जीवन की छाँह बन जाती है। भाग्य-चक्र पर चढ़े हुए हीरालाल और सूरदास एक दूसरे के पीछे दौड़ रहे हैं।

सुदर्शनजी प्रौढ़ कथाकार हैं—अतएव स्वभावतः भाग्य-चक्र का वस्तु-विधान कौशलपूर्ण है—क्लाइमैक्स बहुत कौशलपूर्ण और नाटकीय है। यह अवश्य है कि उनका कौशल सूक्ष्म नहीं—कुछ स्थूल है। पात्र तो साफ तौर से टाइप हैं—"शामलाल—एक बदमाश, दुर्गादास—एक ग़रीब······" इत्यादि, मानो शामलाल और दुर्गादास का अपना पृथक व्यक्तित्व हो ही न, बदमाश या गरीब विशेषण ही उसको समाहित कर लेता हो। फिर भी सूरदास के चित्र की रेखाएँ काफी गहरी हैं। अभिनय की दृष्टि से इस नाटक के कुछ प्रयोग बहुत सफल हुए हैं—जैसे टैलीफोन वाला दृश्य—चरम घटना इत्यादि। रजतपट पर धूपछाँह दूसरी श्रेणी की सुन्दर कृति मानी गई थी। उसमे हृदय को आन्दोलित करने की क्षमता थी।

हमारा आज का रङ्ग-मंच !

विदेश में रङ्गमञ्च का विकास सिनेमा के साथ ही चल रहा है। निकल महोदय ने अपनी पुस्तक 'डेवलपमेण्ट ऑफ दि थिएटर' में अभिनय की टेकनीक पर प्रौढ़ विचार प्रकट किये है। वहाँ का चिर-प्रयोगशील मस्तिष्क रङ्गमंच पर भी निरन्तर प्रयोग कर रहा है। कुछ दिन पूर्व स्वाभाविकता की माँग इतनी बढ़ गई थी कि ड्राइङ्गरूम और दुकान को छोड़कर दृश्य आगे बढ़ ही नहीं सकता था। आखिर लोग मंच पर कुर्सी, मेजों को देखते-देखते थक गये और फिर से रोमाण्टिक दृश्यों का विधान होने लगा। आज फिर वैरी और सिञ्ज आदि के दृश्य विधान में अपूर्व वैचित्र्य मिलता है। विदेश मे स्टेज पर साइन्स का मुक्त प्रयोग होता है; मञ्च-भ्रम उत्पन्न करने के लिये उनके पास अनेक साधन हैं—वे वर्फ का गिरना हल्की रुई के द्वारा दिखा सकते हैं। समुद्र का दृश्य आसानी से उपस्थित हो जाता है। स्टेज ऐसे कौशल से बनाया जाता है कि युद्ध के सजीव दृश्य

दिखाने में भी उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती। कहने का तात्पर्य यह है कि पश्चिम का स्टेज आज अत्यन्त समृद्ध है और वे लोग जीवन का भ्रम काफी दूर तक उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं। पर हमारे यहाँ ऐसा नहीं है। भारत के उत्तर मध्य प्रान्तों में तो स्टेज है ही नहीं, बंगाल में भी आजकल पहले की अपेक्षा उसका ह्रास हो गया है। हाँ, दक्षिण और महाराष्ट्र का रंगमंच सुनते हैं, अब भी सक्रिय है।

हिन्दी के लेखक के लिये आज किसी भी रंगमंच को अपना कहने में विडम्बना सी मालूम होती है। फिर भी जिस मंच को दृष्टि में रखकर हमारा नाटककार अपने नाटक की रचना करता है, उसके विषय में दो शब्द कहना अनुपयुक्त न होगा।

हमारे सामने रंगमंच के आज तीन स्वरूप हैं—१-पारसी रंग मंच का भग्नावशेष, २ अव्यवसायी मंच ३-रजत-पट। आज से कुछ ही वर्ष पूर्व पारसी मंच की समृद्धि स्तुत्य एवं आश्चर्यजनक थी। 'एलफ्रेड' और 'कोरन्थियन' आदि नाटक-कम्पनियों का मंच शिल्प धीरे-धीरे विकसित हो रहा था। उन्होंने मंच-भ्रम के सामने साधन जुटा लिये थे। विभिन्न दृश्यों के लिये उन लोगों के पास नदियाँ पर्दे थे, बिजली, अग्नि इत्यादि के लिये पाउडर थे, वेश-भूषा में वैभव था, बिजली के फोकस से रङ्गीन दृश्यों का विधान बड़ी आसानी से किया जा सकता था, फांसी, हत्या आदि के लिये अँधेरे दृश्यों की सृष्टि होती था। घोड़ा पहुँच युद्ध का वातावरण भी उपस्थित करने का प्रयत्न हो रहा था। स्टेज पर घोड़ा और अन्य पशु पक्षी भी धीरे-धीरे आने लगे थे। उनका संगीत समाज भी समृद्ध था। परन्तु यह सब होते हुये भी उनके पास एक चीज की कमी थी, वह थी सुरुचि। ये कम्पनियाँ सौ फी सदी व्यवसायी थीं इसलिये अधिक से अधिक वे जनता की रुचि का प्रसादन कर सकती थीं। उनकी अपनी रुचि कोई न थी,

अतः जनता का रुचि-परिष्कार उनकी शक्ति से बाहर था। उनके सभी दोषों के लिये सुरुचि का यह अभाव ही उत्तरदायी था। सचमुच उन्हें उस समय तक कला के स्थूल रूप से ही परिचय था। उसके सूक्ष्म स्वरूप से वे अनभिज्ञ थे। इसके परिणाम-स्वरूप वे लोग अनेक प्रकार की ऐतिहासिक भूलें करते थे, उनका हास्य बड़ा भोंडा होता था, उनके अभिनय में अतिरञ्जना होती थी, कथोपकथन में व्यर्थ का बम्बास्ट, और माइक्रोफोन का उपयोग न करने की वजह से प्रत्येक अभिनेता को अस्वाभाविक स्वर में बोलना पड़ता था। खैर Nil Nisi bonum de mortuo, यह रंगमंच-व्यवसाय की सृष्टि था। सिनेमा के कारण बाजार मन्दा हो जाने से यह अपनी मौत मर गया। आज भी इन कम्पनियों के खण्डहर मौजूद हैं। दो तीन वर्ष हुए दिल्ली में प्रसिद्ध कोरन्थियन कम्पनी आई थी, जीजिरा थियेटर के लोभ से दर्शकों की अच्छी भीड़ वहाँ पहुँच गई थी। लोग काफी पैसा खर्च करके गये थे, लेकिन इन थोड़े से वर्षों में जनता की रुचि इतनी बदल चुकी थी कि पारसी-कम्पनी का चमत्कार और अतिरञ्जित अभिनय उनका मनोरञ्जन न कर सका और करीब करीब सभी निराश होकर लौटे।

दूसरा है अव्यवसायी रंग-मंच। केवल मनोरञ्जन अथवा कला-प्रेम के परितोष के लिये नगरों में कुछ शौकीन लोग यदि दिन साधारण से नाटकों का अभिनय करते रहते हैं। इनमें कॉलिज और स्कूलों का भी बहुत सहयोग है। यह स्टेज भी पारसी स्टेज की ही देन है, परन्तु अब शिक्षित जनता के सम्पर्क में आने से और कुछ रंग-शिल्प के विकास से इसमें कुछ थोड़ा-सा परिशोधन हो गया है। फिर भी यह स्टेज निर्धन है। इसके पास न पर्दे अच्छे होते हैं और न वेषभूषा का प्रबन्ध है। हाँ स्वाभाविकता की दृष्टि से यह पारसी-मंच से आगे है, और

इसी कारण, साधारण समाज-जीवन के दृश्यों में इन अभिनेताओं को कभी-कभी अच्छी सफलता मिल जाती है। प्राइवेट क्लब और कॉलिजों में जहाँ स्त्री पुरुष दोनों का वाञ्छित सहयोग है, इस प्रकार का स्टेज उज्ज्वल भविष्य की आशा कर सकता है। छोटे एकाङ्की का प्रचार भी इस स्टेज का निर्माण करने में सहायक होगा।

हमारे स्टेज का तीसरा रूप है रजत पट। भारतवर्ष में उसका आगमन कुछ वर्ष पूर्व ही हुआ है और इस बीच में उसने जो सफलता प्राप्त की है, वह किसी प्रकार भी अस्तुत्य नहीं है। आज भारत में अनेक कम्पनियाँ हैं। यह ठीक है कि उनमें अधिकांश पारसी रङ्गमञ्च के ही रिक्त स्थान की पूर्ति करती हैं, परन्तु फिर भी कुछ मूवीटोन कला का ऊँचा स्टैण्डर्ड रखते हैं। उदाहरण के लिए न्यू थिएटर्स, प्रभात, बाम्बे टॉकीज़ का नाम सरलता से लिया जा सकता है। इनमें बाम्बे टाकीज़ तो एक-मात्र हिन्दी का रंगमंच है।

सिनेमा ने नाट्य-कला के लिये अनन्त क्षेत्र का उद्घाटन कर दिया है। अब नाटककार रंगमंच की स्थूल सीमाओं में बद्ध नहीं है। चित्रपट पर कैसा भी अतिप्राकृतिक एवं अतिमानवीय दृश्य सुन्दर रूप में दिखाया जा सकता है। कल्पना को अवकाश देने के साथ ही, सिनेमा ने अभिनय की कला को भी विकसित किया है। आज भारत में कई प्रथम श्रेणी के अभिनेता हैं। यहाँ की अनेक तस्वीरें विदेश में पुरस्कृत हो चुकी हैं। हिन्दी के अभिनेताओं में सहगल, पृथ्वीराज, चन्द्रमोहन, सान्याल, अशोककुमार, नवाब सफल कलाकार हैं। स्त्रियों में कानन, जमुना देविकारानी, शान्ता आप्टे, लीला देसाई, कमलेश कुमारी, और अब कुछ दिन से लीला चिटनिस ने अच्छी ख्याति अर्जित की है। सङ्गीत और नृत्य की समृद्धि भी आज श्लाघनीय है।

'न्यू थेटर्स' बंगाल की निधि है। स्वभावतः इसके चित्र भावपूर्ण, रोमारिटक; सङ्गीतमय और कोमल होते हैं। 'प्रभात' का महाराष्ट्र से सम्बन्ध अधिक है। उसके चित्रो में जीवन का सम्पर्क है, इसलिए पौरुष है। उसका प्रसिद्ध चित्र 'आदमी' 'न्यू थिएटर्स' की नारी-कला के लिए एक कठोर चैलेञ्ज था। 'बॉम्बे टॉकीज़' के चित्रों का धरातल सामाजिक है। उसमें प्रायः मध्य वर्ग और उच्चवर्ग के मिले-जुले चित्र मिलते है। एक भद्र परिष्कृत मनोरञ्जन इसकी विशेषता है। 'मिनर्वा' की कुछ तस्वीरों का मैं क़ायल हूँ। सोहराब मोदी महान् के उपासक हैं। उनके शक्तिपूर्ण अभिनय और प्रबन्ध-पटुता का मुझ पर गहरा प्रभाव है। ('जेलर' से अधिक शायद मैं किसी तस्वीर से प्रभावित नहीं हुआ) परन्तु उनके चित्र उर्दू की विभूति हैं, हिन्दी का 'जेलर' अथवा 'पुकार' पर कोई अधिकार नहीं।

इस प्रकार, आज रजत-पट निरन्तर उन्नति कर रहा है, परन्तु अभी वह अधिकांश मे नाटकों की अपेक्षा उपन्यास को अधिक अपनाता है। इसका टेकनीकल कारण क्या है, यह तो मैं नहीं जानता, परन्तु एक विशेष कारण यह भी है कि नाटक और सिनेमा अभी प्रति द्वन्द्वी संस्थायें समझी जा रही हैं। नाटककार सिनेमा को सस्ता मनोरञ्जन समझकर उससे बचता रहा है। सिनेमा का डाइरेक्टर नाटक को अनभिनेय समझकर उसे उपेक्षा से देखता रहा है। अब धीरे-धीरे यह अन्तर कम हो रहा है। अब नाटक भी सिनेरिया के लिए लिखे जाने लगे हैं और उधर सिनेमा भी नाटकों को अपनाने लगा है। मेरी धारणा है कि सिनेमा और नाटक के पारस्परिक सहयोग पर ही हिन्दी का क्या, भारत के रङ्गमञ्च का भविष्य निर्भर है। आशा है, शीघ्र ही वे दोनों अपने दम्भ से मुक्त होकर भारतीय मञ्च का प्रतिष्ठापन करेंगे।

इस प्रकार—

हिन्दी का नाटक आज काफी सक्रिय है। उसको लक्ष्मीनारायण मिश्र और भुवनेश्वर का तीक्ष्ण-गहन विश्लेषण, सेठ गोविन्ददास की सुथरी व्याख्या, चन्द्रगुप्त तथा अश्क का दृश्य-विधान एवं उदयशङ्कर भट्ट और रामकुमार की गति-प्रतिभा प्राप्त है। यह सच है कि इनमें कोई भी महान् स्रष्टा नहीं है—और आज का नाटक हमें कोई 'ए वन' की चीज नहीं दे सका—परन्तु भारमली, रेवा, चतुर्भुजदास और रामलाल साहित्य की अमर सृष्टियाँ हैं। कविता, कहानी और समालोचना के उपरान्त आज हिन्दी में नाटक ही क्रियाशील है। रङ्ग-मञ्च के अभाव में यह सफलता क्या स्तुत्य नहीं है?
